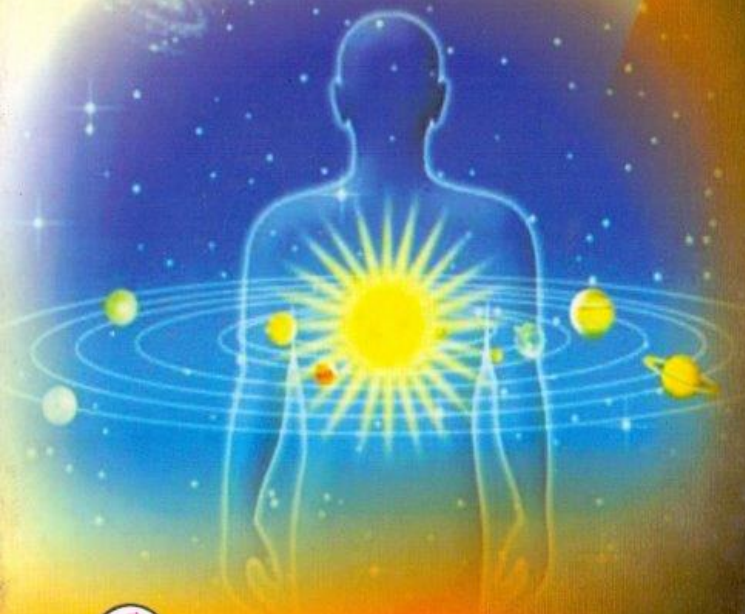


परिष्कृत व्यक्तित्व एक सिद्धि-एक उपलब्धि



-श्रीराम शर्मा आचार्य

परिष्कृत व्यक्तित्व एक सिद्धि-एक उपलब्धि

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो० ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं० २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१४

मूल्य : ७.०० रुपये

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३

लेखक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् २०१४

मूल्य ७.०० रुपये

मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३

फोन (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

समग्र व्यक्तित्व का विकास

कैसे हो ?

उच्चशिक्षा, चतुरता या शरीर सौष्ठव भर से कोई व्यक्ति न तो आत्म-संतोष पा सकता है और न लोक सम्मान। इन सबसे महत्त्वपूर्ण है परिष्कृत व्यक्तित्व। प्रतिभाशील और उन्नतिशील बनने का अवसर इसी आधार पर मिलता है।

समग्र व्यक्तित्व के विकास को विज्ञान की भाषा में 'बौडी इमेज' कहा जाता है। जिनने इस दिशा में अपने को विकसित कर लिया, उनने दूसरों को प्रभावित करने की विशिष्टता को उपलब्ध कर लिया। ऐसे ही व्यक्तित्व प्रामाणिक और क्रिया कुशल माने जाते हैं। उनकी माँग सर्वत्र रहती है। वे न तो हीन समझे जाते हैं और न अपने कामों में असफल रहते हैं। 'बौडी इमेज' से तात्पर्य सौंदर्य, सज्जा या चतुरता से नहीं, वरन व्यक्तित्व की उस विशिष्टता से है जिसके आधार पर किसी की वरिष्ठता एवं विशिष्टता को स्वीकार किया जाता है। यह किसी के विश्वस्त, क्रियाकुशल एवं प्रामाणिक होने की स्थिति है। जिसके पास यह संचय है, समझना चाहिए उसके पास बहुत कुछ है। जो इस क्षेत्र में पिछड़ गया, समझना चाहिए उसे तिरस्कार का भाजन बनना पड़ेगा।

यह विशिष्टता—सज्जनता, विनम्रता एवं आत्म संयम के आधार पर विकसित होती है। ऐसे व्यक्ति उन दुर्गुणों से बचे रहते हैं जिनके कारण क्रिया कुशल, स्वस्थ एवं सौंदर्यवान होते हुए भी ऐसे कुकृत्य करने लगता है जिसे चरित्रहीनता एवं अप्रामाणिकता की संज्ञा दी जा सके। कितने ही चतुर व्यक्ति अपने को हेय स्थिति में फँसा लेते हैं।

ऐसे व्यक्ति शारीरिक ही नहीं मानसिक एवं चारित्रिक रोगों से ग्रसित पाए जाते हैं। जिनने अपने व्यक्तित्व की साधना नहीं की, आदर्श एवं संयम को महत्त्व नहीं दिया, वे कुकर्मों से धन या दर्प का लाभ भले ही उठा लें, अन्य क्षेत्रों में उन्हें घाटा, त्रास एवं तिरस्कार ही सहना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर अपने शरीर के बारे में एक निश्चित धारणा या कल्पना होती है। मानव शरीर के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन करने वाले समाज विज्ञानियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्येक व्यक्ति की अपने स्वयं के बारे में बनी इस निश्चित धारणा या प्रतिबिंब को—‘बौडी इमेज’ या ‘बौडी कॉन्सेप्ट’ अथवा ‘बौडी स्कीम’ जैसे नाम दिए हैं। ‘बौडी इमेज’ न केवल व्यक्ति की अपनी पूर्णतया जागृत अवस्था में अपने बारे में बनी धारणा है बल्कि अचेतन या अर्द्धचेतन अवस्था में भी व्यक्ति की अपने बारे में दृष्टिकोण, अपनी अनुभूतियाँ, अनुभव तथा उसकी मनोकल्पनाएँ आदि भी इसमें सम्मिलित हैं। व्यक्ति की स्वयं के प्रति बनी इन धारणाओं, अनुभवों का स्पष्ट अथवा सांकेतिक दर्शन इस आधार पर किया जा सकता है कि वह अपने प्रत्येक कार्य व्यवहार की व्यवस्था व समायोजन किस प्रकार करता है? क्योंकि व्यक्ति के प्रत्येक क्रिया-कलाप, हाव-भाव, कार्य-व्यवहार में व्यक्ति की स्वयं की ‘बौडी इमेज’ का बहुत गहरा प्रभाव होता है।

आप किसी वर्ग के रोगी नर-नारियों को इकट्ठा कीजिए। जिन लोगों ने औसत जीवन जिया है, उनके रोग संबंधी जीवन का अध्ययन करें। बहुतों को विभिन्न रोगों के दौर से गुजरना पड़ा है। इस प्रकार की बीमारियाँ प्रायः उन दिनों हुई हैं जब उन्हें विभिन्न उतार-चढ़ाव वाली मनःस्थितियों से गुजरना पड़ा, तभी पेचिस, अल्सर, हाई ब्लडप्रेसर और हार्ट अटैक के दौर पड़े। अनुसंधान में पाया गया है कि लगभग सभी बीमारियाँ जब मानसिक दबाव की अधिकता बढ़ती है तभी उग्रतम होती जाती हैं। ‘साइकोलॉजी टुडे’ पत्रिका में (सितम्बर १९८४) डॉ० स्टाप हैनरी का कहना है कि हजार पीछे ७५ प्रतिशत रोगी उक्त

कथन की सत्यता प्रतिपादित करते हैं। कुछ लोगों को अन्यो की अपेक्षा मानसिक तनाव आदि अत्यधिक उग्र होते हैं।

हमारे शरीर की विभिन्न क्रियाएँ जैसे गुर्दे का रक्त में से अशुद्धि का छान लेना, आँतों द्वारा पोषक आहार का सोख लेना आदि अनेकानेक अजूबी क्रियाएँ मस्तिष्क एवं स्नायु तंत्र और पिट्यूटरी जैसी हारमोन स्रावी ग्रंथियों के उचित स्वरूप में क्रियाशील होने पर निर्भर हैं। अपराधी प्रवृत्ति इन सभी गतिविधियों को अस्त-व्यस्त कर देती हैं।

अनैतिक गतिविधियाँ अपनाते समय अथवा उसके पश्चात अपना मुँह सूखने लगता है, जो इस बात का प्रतीक है कि पाचन क्रिया संपूर्णतया बंद कर दी गई है। शक्ति परिवर्तित तथा प्रगति के कारण सांसें तीव्र होती जाती हैं। साथ ही रक्त में इंडोराफिन जैसे नशीले पदार्थ का सम्मिश्रण हो जाता है जिससे कोई भी चोट-मोच आने पर शरीर को भास नहीं होता। साथ ही साथ ए० सी० टी० एच० (एड्रिनोकार्डिको, ट्राफिक हारमोन) का स्राव मस्तिष्क से होने लगता है जिससे स्मरण शक्ति तेज हो जाती है और मस्तिष्क की बुद्धि कुशाग्र हो जाती है।

केन्या मसाई मार गेय रिजर्व अभयारण्य में रहने वाले ६० से अधिक बबून बंदरों में स्ट्रेप्स रिस्पांस के बारे में कई प्रयोग किए गए हैं। इन बबूनों की संरचना मनुष्यों से कई प्रकार मिलती-जुलती है। इन वानरों की यह विशेषता होती है कि नायक और नायिका के कुछ सहचर विशिष्ट विशेषाधिकार जताते हैं। जैसे उत्तम आहार ग्रहण करने में, सुरक्षित स्थान पर कब्जा करने में तथा बंदरियों से सेवा लेने में, जूँ निकलवाने में इत्यादि। यह सब विशिष्टता प्रतिभा-सज्जनता के आधार पर मिली होती है।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन ने कहा है—‘उद्वेग एवं भय को मन में अंकुरित ही न होने दो।’ उन्होंने यह भी बताया है कि यदि मानवी मस्तिष्क में से उद्वेग एवं भय को निकाल दिया जाए तो उसकी पूरी क्षमता का सदुपयोग किया जा सकता है।

तनाव से मुक्ति पाने के लिए जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलना चाहिए। यदि वस्तुस्थिति का सही ढंग से विश्लेषण कर लिया जाए तो भय से सुगमतापूर्वक छुटकारा पाया जा सकता है।

कल्पनाओं के उत्पादन का एकमात्र केंद्र मानवी मस्तिष्क को ही समझा जा सकता है। कुकल्पनाएँ भी यहीं विकसित होती हैं और अपना कुप्रभाव छोड़ती हैं। व्यक्ति इनकी उत्पत्ति को पूरी तरह रोक सकता है।

संसार में भय का अस्तित्व तो है, पर इसे जीवनक्रम में अपना कोई जरूरी नहीं है। व्यक्ति को इन कुकल्पनाओं को मस्तिष्क में नहीं जमने देना चाहिए।

जब व्यक्ति अपनी पूरी सहकारिता का परिचय देने लगे तो शेर जैसे नरभक्षी से भी भयभीत नहीं होता। मामूली-सी कायरता आ जाने पर चूहे जैसे नगण्य प्राणी से भी डरने लगता है। उदाहरण के लिए चिड़ियों को देख सकते हैं। डरपोक चिड़िया किसान द्वारा बनाए गए पुतले (बिजूका) से डरकर भाग जाती हैं जबकि साहसी अपना पेट भरकर ही हटती हैं।

अनीतियुक्त आचरण में यह विशेषता है कि उच्छृंखलताजन्य दर्प प्रकट करते हुए भी उसके अंतराल में भय बना रहता है और वह समस्त व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। शरीर में रोग, मन में खेद, दोनों से मिलकर व्यक्ति ऐसा बन जाता है जिससे उसे सही निर्णय करते नहीं बन पड़ता। अभ्यस्त चरित्रहीनता दिन-दिन बढ़ती जाती है और फिर वह व्यक्ति समाज में अपना स्थान बनाने तथा प्रगतिशील कदम उठाने की स्थिति में नहीं रहता।

व्यक्ति के विकास का उद्गम केंद्र

व्यक्तित्व के विकास के मूल में जिन तथ्यों को समाहित माना जाता है, उनमें से एक है—शरीर में जीवनी शक्ति का प्रकटीकरण—प्राण ऊर्जा का उभार। व्यक्तित्व का मूल्यांकन सामान्यतया शरीर की सुडौलता, सुंदर चेहरे से किया जाता है, पर यह मान्यता भ्रांति युक्त है। यदि मनुष्य काला व कुरूप भी है किंतु आहार-विहार को संतुलित कर आरोग्य रक्षा में निरत रहता है तो ऐसा निरोग मनुष्य भी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व का स्वामी होता देखा जाता है। जबकि चेहरे-मुहरे से सुंदर व्यक्ति रोगग्रस्त, उदास, निस्तेज, आलसी होने पर मरा-गिरा सा, टूटा हुआ प्रतीत होता है।

आशा और उमंग से मन भरा हो, उत्साह और साहस स्वभाव का अंग हो, हँसने-मुस्कराने की आदत हो तो आकृति-प्रकृति आकर्षक हो जाती है। ऐसे व्यक्ति की बनावट भले ही कुरूप हो, वह सहज ही सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेता है एवं जहाँ जाता है, अपनी उपस्थिति से वातावरण को प्रभावशाली बना देता है। अब्राहम लिंकन, सुकरात; महात्मा गाँधी आदि का बाह्य स्वरूप सुंदर नहीं कहा जा सकता किंतु उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को, मनस्विता को, अंग-अंग से फूटने वाले तेजस को कोई नकार नहीं सकता।

वस्तुतः हमारा चेहरा मनःस्थिति का प्रतिबिंब है। आँखों की खिड़की से भीतर की स्थिति झाँकती व उस क्षेत्र का भला-बुरा विवरण दर्शकों को बिना बोले ही बताती रहती है। प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है जिससे व्यक्ति की भाव-भंगिमा, शिष्टता, कार्य-पद्धति को देखते ही यह पता लग सके कि कितने पानी में है। शरीर का बाह्य परिकर प्रभावोत्पादक हो इसके लिए शरीर और मन को इस प्रकार ढाला जाना चाहिए कि वह सौंदर्य, सज्जा, शिक्षा आदि के अभाव में भी विशिष्टता का परिचय दे सके।

शालीनता वह दूसरी शर्त है जो व्यक्ति को वजनदार बनाती है। इस सत्प्रवृत्ति को सज्जनता, शिष्टता, सुसंस्कारिता आदि के नामों से पुकारा जाता है। गुण, कर्म, स्वभाव में गहराई तक घुली यह विशिष्टता पास बैठने वाले को थोड़ी ही देर में यह बता देती है कि सामने वाले का बचकानापन किस मात्रा में घट गया और वजनदार व्यक्तियों में पाई जाने वाली विशेषताओं का कितना उद्भव, समावेश हो गया।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव जुंग ने अंतःकरण की ऊर्जा 'लिबाडो' को अपने शब्दों में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि 'न जाने क्यों यह तथ्य बुद्धिमानों के गले नहीं उतरता कि वे मस्तिष्कीय चमत्कारों की तुलना में कहीं अधिक विभूतियाँ अपनी अंतःचेतना को विकसित करते हुए हस्तगत कर सकते हैं।' 'स्व' को यदि उच्चस्तरीय बनाया जा सके तो फिर 'पर' के प्रति न कोई शिकायत रहेगी और न कोई आशा-अपेक्षा ही रखनी होगी।

यह कथन व्यक्ति के व्यापक सर्वांगपूर्ण विकास की चरचा करते समय काफी महत्त्व रखता है। यहाँ उनका संकेत है कि आत्मिक क्षेत्र की सबसे बड़ी प्यास घनिष्ठ आत्मीयता की है, जिसे व्यवहार में सद्भाव संपन्न मैत्री कहते हैं। पुरातन भाषा में इसी को अमृत कहते थे। मैत्री परिकर भी बढ़ना चाहिए और वातावरण भी बनना चाहिए। किंतु वैसा न हो जैसा कि आजकल मित्र बनकर शत्रुता का आचरण करने की विभीषिका उस पुनीत शब्द को बदनाम कर रही है।

इन दिनों वैभव को सर्वोपरि मान्यता मिली हुई है। फलतः संपदा का संचय और प्रदर्शन जन साधारण की आकांक्षा व तत्परता का केंद्र बन गया है। इसी की ललक-लिप्सा में आपाधापी और छीना-झपटी की दुष्प्रवृत्तियाँ पनपी हैं। फलतः विपन्नताएँ बढ़ती चली गईं। अगले दिनों यह प्रवाह उलटना होगा तथा लोक चेतना को यह सोचने पर सहमत करना होगा कि वह आदर्शों की ओर चले, उसके लिए अंतःकरण टटोले और अंतःप्रेरणा से ही मार्गदर्शन प्राप्त करे।

आरंभिक जीवन की ग्रहण संवेदनशीलता के अतिरिक्त व्यक्तित्व निर्माण में एक बड़ा कारण यह भी होता है कि बालक को माता के शरीर का रस मात्र ही नहीं मिलता, वरन उसकी मानसिक संरचना भी उस नव-निर्मित प्राणी को उपलब्ध होती और ढाँचे का अंग बनती है। यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है कि एक के द्वारा दूसरे को प्रभावित करने में भावनात्मक घनिष्ठता सर्वोपरि भूमिका निभाती है। माता की बच्चे के प्रति जो भावनात्मक संवेदना होती है, वह आदान-प्रदान का समर्थ माध्यम बनती है। माता के द्वारा वह न केवल पोषक आहार ग्रहण करता है, न केवल सुविधा, सुरक्षा के अनुदान उपलब्ध करता है वरन इस सबसे बड़ी वस्तु स्नेह दुलार का वह रसायन भी उपलब्ध करता है जिसके सहारे गहन स्तर के आदान-प्रदान बन पड़ते हैं। माता-पिता तथा अन्य अभिभावक जो बालक के साथ जितनी भावनात्मक घनिष्ठता एवं सहानुभूति जोड़े रहते हैं, उसे बिना माँगे ही बहुत कुछ गले उतारते रहते हैं।

बालकों का यह उदाहरण यहाँ इसलिए दिया जा रहा है कि घनिष्ठता, समीपता एवं भावनात्मक आत्मीयता के उस दुहरे प्रभाव को

समझा जा सके, जिसमें न केवल सान्निध्य सुख एवं सहयोग मिलता है वरन अंतरंग विशेषताओं के आदान-प्रदान का भी मार्ग खुलता है। यहाँ मैत्री की ओर संकेत किया गया है। मैत्री किसी भी कारण बनी या बढ़ी क्यों न हो, यदि वह गहराई तक पहुँचती और आत्मीयता तक विकसित हुई तो फिर उसका ऐसा प्रभाव भी होना ही चाहिए कि एक पक्ष दूसरे को प्रभावित कर सके।

यह तथ्य इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि व्यक्ति को यदि उत्कृष्टता की ओर अग्रसर करना अभीष्ट हो तो उसके लिए शिक्षण के साथ-साथ आत्मीयता का गहरा पुट लगाने की भी व्यवस्था होनी चाहिए। विकृत व्यक्तियों को संतुलित एवं समुन्नत बनाने में स्नेह-दुलार की उपलब्धि इतनी बड़ी औषधि है, जिसकी तुलना में अन्य कोई उपाय-उपचार कारगर नहीं होते देखा गया। प्यार की प्यास हर किसी को रहती है और वह समुचित परिमाण में किसी भाग्यवान को मिल सके तो समझना चाहिए कि व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु एक प्रभावशाली साधन जुट गया।

प्रतिभा की विलक्षणताएँ अनेकों सफलताओं का निमित्त साधन बनती हैं, किंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि वह मात्र वंशानुक्रम, सान्निध्य, साधन-शिक्षण आदि बाहरी प्रभाव-अनुदानों से ही पूर्णरूपेण हस्तगत नहीं होती। ऐसी बात होती तो मनुष्य को सचेतन कहते हुए भी परिस्थितियों का दास कहना पड़ता। यह तो भाग्य-प्रारब्ध से भी बुरी बात होती। यदि परिस्थितियाँ किसी के भले-बुरे बनने का आधार रही होतीं तो किसी को श्रेय या दोष देकर उन साधनों को ही सराहा या कोसा जाता जिन्होंने उत्थान या पतन में भूमिका निभाई।

चरित्र मनुष्य की मौलिक विशेषता एवं उसका निजी उत्पादन है। इसमें उसके निजी दृष्टिकोण, निश्चय, संकल्प एवं साहस का पुट अधिक होता है। इसमें बाह्य परिस्थितियों का यत्किंचित योगदान ही रहता है। असंख्यों ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनमें लंका जैसे विषाक्त वातावरण में विभीषण जैसे संत अपने बलबूते समूची प्रतिकूलताओं को चुनौती देते हुए अपने स्थान पर अटल बने रहे। ऐसे भी कम नहीं,

जिनमें पुलस्त्य ऋषि के देव परिकर में रावण जैसे दुराचारी का प्रादुर्भाव हुआ और उसने वातावरण को ताक पर उठाकर रख दिया।

यह व्यक्तिगत चरित्र ही है जिसे व्यक्ति अपने बलबूते विनिर्मित करता है। परिस्थितियाँ सामान्य स्तर के लोगों पर ही हावी होती हैं। जिनमें मौलिक विशेषता है वे नदी के प्रवाह से ठीक उलटी दिशा में मछली की तरह अपनी पूँछ के बल पर छर-छराते चल सकते हैं। निजी पुरुषार्थ एवं अंतःशक्ति को प्रसुप्त से उभारते हुए साहसी व्यक्ति अपने को प्रभावशाली बनाते और व्यक्तित्व के बल पर जन सम्मान अर्जित करते देखे गए हैं। यह उनके चिंतन की उत्कृष्टता, चरित्र की श्रेष्ठता एवं अंतराल की विशालता के रूप में विकसित व्यक्तित्व की ही परिणति है।

संतों की, सज्जनों की दोस्ती स्वभावतः अपने जैसे लोगों से ही हो जाती है। आवश्यक नहीं कि वे एक ही इलाके या एक ही गाँव के हों। दूर-दूर के रहने वाले होने पर भी एक-दूसरे का परिचय कहीं न कहीं से प्राप्त कर लेते हैं और उनके बीच मेल-जोल का सिलसिला चल पड़ता है। अंततः वे घनिष्ठ बन जाते हैं। चोर-डाकुओं के भी गिरोह बनते रहते हैं। इसका कारण एक ही है कि हर मनुष्य की अपनी प्रकृति होती है। उसे साथियों की आवश्यकता पड़ती है। चुंबक लोहे के टुकड़ों को खींचकर अपने पास जमा कर लेती है। मनुष्य भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप मंडलियाँ बना लेते हैं और उनके मिले-जुले प्रयास से चमत्कार दिखाने लगते हैं। यदि मनुष्य अपनी प्रकृति बदल डाले और नई रीति-नीति अपना ले तो पुराने सभी मित्र छिन्न-भिन्न हो जाएँगे और नई परिवर्तित प्रकृति के अनुरूप जमघट बढ़ने लगेगा।

एक बच्चा पिता के साथ नदी तट पर गया। हवा चल रही थी और लहरें उठ रही थीं। हर लहर पर एक अलग सूर्य चमक रहा था। बच्चे ने पिता से पूछा—आकाश में सूरज एक ही बड़ा है, पर हर लहर पर तो सैकड़ों-हजारों की संख्या में दीख रहा है और आकार में भी छोटा है। पिता ने समझाया कि आकाश वाला सूरज तो एक ही है। लहरों पर तो उसके प्रतिबिंब भर चमक रहे हैं।

इस संसार में जन समुदाय समुद्र की लहरों के समान है। उनके अपने-अपने गुण स्वभाव हैं, पर उनकी वही विशेषताएँ हमारे सामने उभरकर आती हैं, जिन्हें हम ढूँढ़ते हैं। सज्जनों के साथ आमतौर से अन्य लोग भी सज्जनता का ही व्यवहार करते हैं। इसके विरुद्ध क्रोधी लोगों का हर किसी से झगड़ा-झंझट होता रहता है। बाजार में अनेकों दुकानें होती हैं, पर उनमें पहुँचते वही लोग हैं, जिन्हें जिस चीज की जरूरत होती है। जिसे मिठाई खरीदनी है वह लोहे की दुकान पर जाकर व्यर्थ हैरान होगा और निराश वापस लौटेगा।

व्यक्तित्व गठन हेतु एकमात्र अवलम्बन

व्यक्तित्व का गठन मूलतः विचारों पर निर्भर है। चिंतन मन को ही नहीं शरीर को भी प्रभावित करता है। मनोकायिक गड़बड़ियाँ चिंतन की गिरावट का ही परिणाम हैं। इस बात को प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक एकमत से स्वीकार करते हैं। चिंतन की उत्कृष्टता को अपनाने के लिए तथा उसे व्यावहारिक जगत में उतारने से ही भावात्मक तथा सामाजिक समंजन प्राप्त हो सकना संभव है।

इस प्रकार के समंजन की सरल किंतु सक्षम प्रक्रिया बता पाने में आधुनिक मनःशास्त्री असमर्थ पाए जाते हैं। इस विषय पर वे आपसी खींचतान के अतिरिक्त कुछ उपाय दे सकने में अक्षम ही दिखाई देते हैं। मनोविज्ञान की जाह्वी का गोमुख सदृश उद्गम स्थल उपनिषद् हैं। इनमें विशेषतया श्वेताम्बर उपनिषद् में ऋषियों ने इस प्रकार के भावात्मक एवं सामाजिक समंजन स्थापित करने, राग-द्वेष आदि विरोधी भावों से उठने हेतु एक पूर्णतया सक्षम, सशक्त प्रक्रिया उद्भूत की है जिसे 'उपासना' कहते हैं।

निःसंदेह उपासना श्रेष्ठ चिंतन एवं उत्कृष्ट व्यक्तित्व के निर्माण का सशक्त माध्यम है। मन की बनावट कुछ ऐसी है, वह चिंतन के लिए आधार खोजता है। जैसा माध्यम होगा, उसी स्तर का चिंतन चल पड़ेगा, तदनुरूप क्रिया-कलाप होंगे। निम्नस्तरीय चिंतन वाले व्यक्ति के क्रिया-कलाप घटिया होना स्वाभाविक है। ऐसा व्यक्ति अपने जैसे दुराचारी-अनाचारी व्यक्ति विनिर्मित करने में ही सहायक होगा, जबकि

उच्चस्तरीय चिंतन करने वाले संत-मनीषी महात्माओं के अनुरूप उनके क्रिया-कलाप भी उत्कृष्ट कोटि के होते हैं। तदनुरूप उनके सान्निध्य में रहने वाले व्यक्तियों का व्यक्तित्व भी उसी ढाँचे में ढलकर सुघड़ स्वरूप प्राप्त करता है। वर्तमान समय में श्रेष्ठ व्यक्तित्व संपन्न व्यक्तियों का अभाव है। बहुलता हेय, गये-गुजरो की है। इनसे सामाजिक समंजन की अपेक्षा करना एक विडंबना है। इन परिस्थितियों में समस्या एक खड़ी होती है कि मानवी व्यक्तित्व को श्रेष्ठ कैसे बनाया जाए? विचार करने पर एक ही रास्ता दिखाई देता है—‘उपासना का अवलम्बन।’

उपासना से जुड़ी आदर्शवादी मान्यताएँ एवं प्रेरणा ही चिंतन को श्रेष्ठ एवं व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बना सकने में समर्थ हो सकती हैं। उपासना की समग्रता एवं उसके मनोवैज्ञानिक प्रभावों को भली-भाँति समझा जा सके तो व्यक्तित्व निर्माण का सबल आधार मिल सकता है। उपासना का लक्ष्य है—व्यक्तित्व का परिष्कार। इसके निर्धारण से उससे जुड़े आदर्शों एवं उच्चस्तरीय सिद्धांतों द्वारा उपासक को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। उपास्य में तन्मय होने का अभिप्राय है—उच्चस्तरीय आदर्शों एवं सिद्धांतों में लीन हो जाना और उनके अनुरूप आचरण करना। उपासना द्वारा निर्माण की यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया चलती रहती है। इनमें तन्मयता की पराकाष्ठा उपास्य और उपासक के बीच विभेद को समाप्त कर देती है। द्वैत से उठकर अद्वैत की स्थिति हो जाती है। परमहंस रामकृष्ण का सर्वत्र काली का दर्शन करना, महाप्रभु चैतन्य का कृष्ण से एकाकार हो जाना, स्वामी रामतीर्थ का ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित हो अपने अस्तित्व को भूल जाना, उपासना की तन्मयता एवं उसकी प्रतिक्रियाओं का प्रभाव है। यह असामान्य स्थिति न भी हो तो उपासक के विचारों का परिशोधन, परिष्कृतीकरण होता जाता है, भाव-संवेदनाओं में आदर्शवादिता जुड़ने लगती है।

उपासना निराकार की करें या साकार की? इष्ट निर्धारण क्या हो? यह व्यक्तित्व, अभिरुचि एवं मनःस्थिति के ऊपर निर्भर करता है। चिंतन को लक्ष्य की ओर नियोजित किए रखने के लिए साकार

अथवा निराकार कोई भी अवलम्बन किया जा सकता है। यह आवश्यक है और उपयोगी भी। इस प्रक्रिया के साथ जुड़े हुए चिंतन प्रवाह में आदर्शवादिता का जितना अधिक पुट होगा, उसी स्तर की सफलता प्राप्त होगी। इष्ट से तादात्म्य और उससे मिलने वाले दिव्य अनुदानों से वह आधार बन जाता है जिससे उपासक अपने चिंतन एवं गतिविधियों को श्रेष्ठता की ओर मोड़ सके।

आधुनिक मनोविज्ञान ने जिन नये तथ्यों का उद्घाटन किया है वे आध्यात्मिक मूल्यों की पुष्टि करते हैं। चिंतन को व्यक्तित्व का मूल आधार माना जाने लगा है। इस संबंध में हुए शोध प्रयास यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का जैसा आदर्श होगा, उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व विनिर्मित होगा। आदर्श यदि श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट है तो चिंतन एवं गतिविधियों में श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता समायेगी। इसके विपरीत निकृष्ट आदर्श एवं निम्नगामी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देंगे, हेय व्यक्ति गढ़ेंगे। उपासना में इष्ट निर्धारण परोक्ष रूप से श्रेष्ठ आदर्शों की प्रतिष्ठापना है। जिसके निकट आने, तादात्म्य स्थापित करने वाला भी उसी के अनुरूप ढलता-बनता चला जाता है।

एरिक फ्रॉम, हैरी स्टैक सुलीवान एवं डॉ० हेनरी लिडलहर का मानना है कि हम शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को किसी दिव्य सत्ता देवदूत अथवा सर्वव्यापी चेतना से एकात्म स्थापित करके निश्चयपूर्वक सुधार सकते हैं। उनका कहना है कि हम जिस प्रकार की सत्ता का चिंतन करते हैं उससे हमारा संपर्क उसी प्रकार स्थापित हो जाता है जिस प्रकार माइक्रोवेव्स के द्वारा संसार के विविध रेडियो स्टेशनों से संपर्क हो जाता है। दिव्य सत्ताओं से संपर्क एवं उनसे मिलने वाली प्रेरणाओं से आध्यात्मिक ही नहीं शारीरिक मानसिक लाभ भी प्राप्त किये जा सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क वायरलैस के रिसीवर की तरह है जो हर समय भले-बुरे विचारों को ग्रहण करता रहता है। मन में किस प्रकार के विचार उत्पन्न होंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किससे अपना संपर्क जोड़ रहे हैं।

परिष्कृत एवं परिपक्व विचार आस-पास के वातावरण को भी तदनुरूप बनाने में सहायक होते हैं। प्रख्यात विचारक अपटॉन सिक्लेयर अपनी पुस्तक 'मेंटल रेडियो' में स्पष्ट करते हैं कि उपासना व्यक्तित्व निर्माण की एक समग्र प्रक्रिया है, जिसका अवलम्बन लेने वाला स्वयं श्रेष्ठ बनता और दूसरों को भी प्रभावित करता है। वह अपने विचारों का प्रसारण अभौतिक माध्यमों से लोगों तक कर सकता है। इसमें व्यक्ति एवं वातावरण को अनुवर्ती बनाने के सभी तत्त्व विद्यमान होते हैं।

प्रसिद्ध मनःशास्त्री जुंग उपासना को जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'सभी धर्मों में प्रचलित उपासनाएँ स्वास्थ्य एवं सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं।' उनकी मान्यता के अनुसार—'संसार के सभी मानसिक चिकित्सक मिलकर भी उतने रोगियों को आरोग्य प्रदान नहीं कर पाते जितना कि छोटी से छोटी धार्मिक उपासनाएँ कर देती हैं।'

व्यक्ति के अधःपतन एवं चिंतन-चरित्र व्यवहार की त्रिवेणी में बढ़ते जा रहे प्रदूषण को रोकने तथा इसका परिशोधन कर निर्मल-परिष्कृत एवं ऊर्ध्वगामी बनाने में उपासना की आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता भी है। पुरातनकाल के ऋषियों तथा आधुनिक काल के संतों ने इसका अवलम्बन कर स्वयं के व्यक्तित्व को सुघड़ बनाने के साथ ही समूची जाति के समक्ष प्रकाश संकेतक के रूप में स्वयं को उभारा। आज भी भावनात्मक सामाजिक समंजन सर्वतोमुखी परिष्कार एवं समग्र प्रगति के सभी आधार इसमें विद्यमान हैं। समस्याओं की जटिलता से उबरने तथा अपने व्यक्तित्व को गढ़ने के लिए उपासना का राजमार्ग ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

उत्थान की आकांक्षा और दिशाधारा

प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए अनवरत प्रयत्नशील रहना जीवधारी की एक स्वाभाविक वृत्ति है। जीवन के आरंभ से अब तक प्रगति का यदि लेखा-जोखा लिया जाए तो यही तथ्य अधिकाधिक उजागर होता है। अमीबा जीवन का आदि स्वरूप माना जाता रहा है। एक कोशीय जीवधारी इस प्रकृति के घटक ने क्रमिक विकास करते-करते

कई-कई इंद्रियाँ और काया की कई-कई इकाइयाँ विकसित की हैं। यह सब अनायास ही संभव नहीं हो गया, इसके लिए प्राणियों की इच्छा-शक्ति ने, अंतःचेतना एवं स्फुरणा ने असाधारण भूमिका निभाई है। वस्तुतः यह उनका चेतनात्मक पुरुषार्थ है जिससे उनकी जैविक क्षमताओं का विकास हुआ है।

प्रकृति ने जीवधारियों के निर्वाह की सुविधा स्वेच्छापूर्वक प्रदान की है। ऐसा न होता तो जीवन के लिए अपना अस्तित्व बनाए रहना, अपनी प्रगति के साधन-सामग्री उपलब्ध कर सकना ही संभव न होता, तब उन्नति करने और समग्र-समर्थ होने की बात ही कैसे बनती ? इतने पर भी यह मानकर चलना होगा कि जीवधारी का अपना निजी स्वभाव अग्रगमन के लिए, अभ्युदय के लिए अनवरत पुरुषार्थ करना है। इसी को इच्छा, अभिलाषा और आकांक्षा कहते हैं, इसे अंतःप्रेरणा भी कहा जा सकता है। यही है जीवधारी की वह मौलिक विशेषता, जिससे वह प्रगति पथ पर लाखों-करोड़ों वर्षों तक चलते-चलते उस स्थिति पर पहुँचा है जिसमें जीव जगत के अगणित प्राणियों को पाया जाता है। यह सृष्टि के आरंभ काल की तुलना में असंख्य गुना अधिक परिष्कृत है। आदिमकाल की अनगढ़ स्थिति और आज की स्थिति का कोई मुकाबला नहीं। उस समय के और आज के जीवधारियों की चेतना, कुशलता एवं क्षमता में आश्चर्यजनक अंतर पाया जाता है। अनगढ़ जीवसत्ता ने आज की सुगढ़ स्थिति प्राप्त करने में असाधारण प्रयास-पुरुषार्थ का परिचय दिया है। इस प्रगति में प्रकृति एवं परिस्थितियों का योगदान न रहा हो ऐसी बात नहीं, किंतु जिसे भौतिक पृष्ठभूमि कह सकते हैं वह अंतराल की वह उमंग ही है जो आगे बढ़ने की निरंतर प्रेरणा देती और उसके लिए पुरुषार्थ की बेचैनी बनाये रखती है।

इस संदर्भ में दो प्रवाह सामने आते हैं—एक चेतना पक्ष का ऊँचा उठना, दूसरा कार्य वैभव का आगे बढ़ना। उठने से तात्पर्य है चिंतन और चरित्र में उत्कृष्टता का अभिवर्द्धन। आगे बढ़ने का अर्थ है—समर्थता और संपदा का उपार्जन। इन दोनों के समन्वय से जीवन की दिशाधारा बनती है। मान्यता और आकांक्षा का स्तर श्रेष्ठ या निकृष्ट होना व्यक्ति का अपना चुनाव

है, जो इसे वरण करेगा वह उस दिशा में अग्रसर अवश्य होगा। जिनकी गति धीमी होती है, उनकी आलसी-प्रमादी आदि नामों से भर्त्सना की जाती है। ऐसे ही लोग पिछड़े वर्ग में गिने जाते हैं और अभाव-उपहास के भाजन बनते हैं। जिनकी दिशाधारा सही होती है वे वैभव-सम्मान पाते और श्रेय-संतोष के अधिकारी बनते हैं। यह समस्त उपलब्धियाँ उस आकांक्षा तत्त्व की हैं जो न्यूनाधिक मात्रा में सभी में पाई जाती है।

प्रगति की आकांक्षा स्वाभाविक भी है और उचित उपयोगी भी। उसमें व्यक्ति का निजी लाभ भी है और समाज का समग्र हित-साधन भी। इच्छा के त्याग वाली उक्ति जिन अध्यात्म ग्रंथों में पाई जाती है, वहाँ उसका प्रयोजन प्रतिफल की आतुरता का परित्याग करने भर से है। शब्दावली में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उनसे किसी भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। बुरे कामों के परिणाम तो तत्काल भी मिल जाते हैं, पर भले कामों का उपयुक्त प्रतिफल मिलने में क्षमता और पुरुषार्थ के निर्धारण की एवं साधन की परिस्थितिजन्य अनुकूलता की कमी रहने पर अभीष्ट सत्परिणामों की मात्रा तथा अवधि में व्यतिरेक हो सकता है। ऐसी दशा में कर्त्ता को जो खीझ, निराशा एवं अनास्था उत्पन्न होती है, उसी की रोकथाम के लिए यह सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है कि सत्कर्म से मिलने वाले संतोष एवं सन्मार्ग पर चलने के गौरव को पर्याप्त प्रतिफल मान लिया जाए और समयानुसार जब भी सत्परिणाम उपलब्ध हो तब उसे अतिरिक्त उपहार भर माना जाए। इस मान्यता को अपनाने से संतुलन बना रहता है और मार्ग से विचलित होने में उद्विग्नताजन्य अवरोध बाधक नहीं बन पाता।

सृष्टि के आदि में सृष्टा ने इच्छा की कि 'मैं एक से अनेक बन जाऊँ और अपने अनेक रूपों के साथ रमण की क्रीड़ा-कल्लोल में निरत रहूँ।' यह इच्छा ही परा और अपरा के रूप में प्रादुर्भूत हुई और सृष्टिक्रम चल पड़ा। प्राणियों में यह इच्छा प्रगति की अभिलाषा के रूप में पाई जाती है और पदार्थों में गतिशील बने रहने का पराक्रम अनुशासन बनकर रहती है, वही सुनियोजित होने पर प्रगति कहलाती है। उद्भव परिष्कार और परिवर्तन का नियति चक्र इसी धुरी पर

घूमता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इसी गोलाकार परिभ्रमण के नाम हैं। ब्रह्मांड के सभी छोटे-बड़े क्रिया-कलाप इसी दैवी निर्धारण अनुशासन के अंतर्गत चल रहे हैं।

प्रगति के लिए प्रेरणा देने वाली आकांक्षा जीवसत्ता के साथ अनादिकाल से जुड़ी हुई है और अनंतकाल तक जुड़ी रहेगी, उसे उपयुक्त दिशा देना ही मानवी बुद्धिमत्ता का चरम कौशल है। इसी को परम पुरुषार्थ कहते हैं। आत्म निरीक्षण, आत्म निर्माण, आत्म सुधार, आत्म विकास के नाम से जिस आत्मोत्कर्ष एवं आत्म कल्याण का ऊहापोह होता रहता है, उसमें करने योग्य पराक्रम एक ही है कि आकांक्षाओं को, चेतना को सुसंस्कृत बनाने वाली उत्कृष्टता अपनाने के लिए बाधित किया जाए—इन मान्यताओं को ही श्रद्धा कहते हैं। यह आप्त कथन अक्षरशः सत्य है कि जीवात्मा का रूप श्रद्धामय है, जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बन जाता है।

प्रकृति प्रदत्त आकांक्षाएँ शरीर पर छाई रहती हैं और भूख, प्रजनन, अस्तित्व रक्षा में तृष्णा, वासना, अहंता के विविध रूपों में प्रकट-परिलक्षित होती रहती हैं। यह सामान्य प्रवाह की बात हुई जिसे समस्त जीवधारी अपनाते और सृष्टि का गतिचक्र चलाने के लिए विभिन्न प्रकार की चर्चाएँ करते हुए जीवन लीला समाप्त करते हैं। इससे आगे का पक्ष वह है जिसे आत्मा या चेतना को उच्चस्तरीय प्रगति की ओर ले चलने वाला निर्धारण कह सकते हैं। इसमें दैवी प्रवाह को अपनाना पड़ता है, आस्थाओं को आस्तिकता के साथ, बुद्धि को आध्यात्मिकता के साथ नियोजित करना पड़ता है। यही अध्यात्म दर्शन एवं साधना का सारभूत सिद्धांत है, आत्मा की चेतना की प्रगति इसी पर निर्भर है।

उपरोक्त कथन प्रतिपादन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि जीवसत्ता की मूलभूत प्रवृत्ति आकांक्षा के वर्तमान स्वरूप का पर्यवेक्षण किया जाए और देखा जाए कि वह शरीर को आगे बढ़ने और आत्मा की ऊँचे उठने की प्रवृत्ति को साथ-साथ लेकर चल रही है या नहीं। दोनों के बीच असंतुलन तो नहीं बन रहा है। असंतुलन से ही प्रगति, अवनति या दुर्गति होती है।

मनुष्य यदि सचमुच ही बुद्धिमान हो तो समग्र प्रगति का दूरदर्शी निर्धारण करना चाहिए। यदि वह इतना कर सके तो समझना चाहिए कि वास्तविक ज्ञान चेतना का वह अधिष्ठाता-अधिपति हो गया। उस संपदा का सही उपयोग जिसने भी किया है वह प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचा है और हर दृष्टि से कृत-कृत्य बना है। हमें प्रगति और अवनति के अंतर को समझना चाहिए और अपनी वर्तमान परिस्थिति का पर्यवेक्षण करते हुए औचित्य का विवेक सम्मत पर्यवेक्षण करना चाहिए। आत्मोत्कर्ष की परम श्रेयस्कर आकांक्षा को सुनियोजित करने में ही व्यक्ति का अभ्युदय और समाज का कल्याण है, जो इतना समझने, स्वीकारने में समर्थ हो सकेगा उसका भविष्य सुनिश्चित रूप से उज्ज्वल बनकर रहेगा।

जीवन मुक्ति का वास्तविक आनंद कैसे मिले

आत्मा की आकांक्षाओं, मान्यताओं और भावनाओं को क्रियान्वित करने का भार मन को वहन करना पड़ता है। वही कार्यान्वयन की योजना बनाकर शरीर को देता है, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के सहारे वह उन्हें चरितार्थ करता रहता है। प्रत्यक्ष कृत्य शरीर करता है, इसलिए दोष अथवा श्रेय उसी को मिलता है, पर यह भुला दिया जाता है कि शरीर जड़ पंच तत्त्वों का बना हुआ है। उसमें न सोचने की क्षमता है और न करने की। रेल, मोटर-साइकिल आदि यंत्र वाहन अपनी मरजी से भला-बुरा कुछ भी करने में असमर्थ हैं, ड्राइवर ही उन्हें जहाँ-तहाँ घसीटते फिरते हैं, यही विधा जीवनक्रम में चरितार्थ होती है।

आत्मा का परिधान अंतःकरण है, उससे चेतना प्रभावित होती है। समर्थ एवं परिष्कृत आत्माएँ साधना द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाल लेती हैं। फलतः व्यक्तित्व परिष्कृत स्तर का बनता है और मनुष्य कलेवर में देवत्व की आभा झलकती है। इसके विपरीत यदि तमोगुणी असुरता अंतराल की गहराई तक चली जाए तो प्रवृत्ति एवं आकांक्षा अनुपयुक्त कामों में रस लेती है और फिर तदनु रूप प्रवृत्तियों का प्रवाह बहने लगता है।

आंतरिक दुष्प्रवृत्तियों में वासना, तृष्णा और अहंता का असामान्य उद्भूत हो उठना अनेकानेक दोष-दुर्गुणों का सृजन करता है, यही प्रमुख मनोविकार हैं। क्रियाओं में यही उभरते दीखते हैं, किंतु वस्तुतः उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उपरोक्त तीन दुष्प्रवृत्तियों का फलितार्थ ही उसे समझा जाना चाहिए। वासना और तृष्णाजन्य विकृतियों की चर्चा तो प्रायः की जाती है किंतु मूलतः अहंता पर विचार किया जाना चाहिए, यह अहंकार का दूसरा नाम है। व्यक्ति अपने आप को दूसरों की निगाहों में वरिष्ठ प्रदर्शित करना चाहता है और उसके लिए अनेक तरह के सरंजाम जुटाता है। यों इसका सीधा, सरल और सौम्य मार्ग है कि साधारण लोग गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से हेय जीवन जीते हैं, षट्-रिपुओं के चंगुल में बुरी तरह फँसे होते हैं। फलतः चिंतन और चरित्र की दृष्टि से उनकी स्थिति नर-पशु, नर-पामर या नर-पिशाच जैसी होती है। इन दुष्प्रवृत्तियों के क्षेत्र में कौन अग्रणी रहा-इसी की प्रतिस्पर्द्धा उनमें चलती रहती है। इसी हेय स्तर की सफलताओं को अपनी चतुरता, कुशलता एवं सफलता के नाम से दिखाते-बखानते रहते हैं। औसत आदमी की अहंता इसी रूप में प्रकट होती है। दुष्ट-दुराचारी अपने अनीति कृत्यों को गौरव-गरिमा में सम्मिलित करते हैं और छल-प्रपंच की अनीति और आक्रमण की घटनाओं को अपनी विशिष्टता के रूप में देखते और दिखाते हैं।

यदि इस कुपंथ को उलटकर सज्जनोचित शालीनता अपनाई जा सके तो वह वास्तविकता प्रशंसा और प्रतिष्ठा का आधार बन जाती है। उतने भर से आत्म प्रतिष्ठा, आत्म गौरव और आत्मोत्कर्ष की स्थिति बन जाती है। लोगों का यह मिथ्या भ्रम है कि ओछे हथकंडे अपनाकर येनकेन प्रकारेण अपनी महिमा का विज्ञापन किया जा सकता है। इस आधार पर प्रशंसा करने वाले दूसरे ही क्षण मुँह फेरने और निंदा करने में भी नहीं चूकते। सामने वाले की चापलूसी परदा हटते ही यथार्थता बखानने लगती है।

फैशन, सज-धज, अमीरों जैसे ठाट-बाट, किसी दुर्बल पर आक्रमण, किसी सज्जन को ठगना, घर में विपुल संपदा जमा करना,

चाटुकारों का मुँह मीठा करके अपनी प्रशंसा सुनना आदि करतूतें उद्धत अहंता वाले लोग करते रहते हैं और उसी में अपना ढेरों समय, श्रम, धन तथा चिंतन गँवाते फिरते हैं। इस आधार पर जो प्रदर्शनात्मक प्रपंच खड़ा किया गया था वह क्षणिक और अवास्तविक विडंबना खड़ा करने के अतिरिक्त और किसी अन्य काम नहीं आता।

शृंगारिक वेश-विन्यास बनाने वाले, कीमती वस्त्र-आभूषणों से लदने और तेल-फुलेल से मँहकने वाले लड़की-लड़की सोचते हैं कि वे जिस राह भी निकलेंगे उधर ही दर्शक उनकी कलाकारिता, सुंदरता एवं संपन्नता को सराहेंगे, पर होता उससे ठीक उलटा है। उनके चरित्र पर उँगली उठती है, दुराचार का आमंत्रण देते फिरने वाला माना जाता है। फिजूलखर्च को अदूरदर्शी एवं बाल-बुद्धि बचकाना माना जाता है, शृंगारिकता हर किसी पर यही छाप छोड़ती है, भले ही किसी अनुचित लाभ के लिए कोई मुँह सामने कुछ प्रशंसा के शब्द कह दे।

सादगी का सघन संबंध उच्च विचारों से है। गाँधी, ईसा, बुद्ध जैसों के परिधान सस्ते और स्वल्प थे। ऋषि और महापुरुष भी अपनी सज्जा औसत देशवासियों से अधिक मँहगी नहीं होने देते थे—यह शालीनता के परिधान हैं। इस प्रकार के आच्छादन से किसी की प्रतिष्ठा घटती नहीं वरन बढ़ती है। मँहगे वस्त्र और मँहगे आभूषण पहनने, धारण किए फिरने वालों को स्वांग-नाटकों के प्रदर्शनकारी माना जाता है अथवा यह कहा जाता है कि पैसे को उपयुक्त कार्य न में लगाकर सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन में लगाने की अपेक्षा मूर्खता द्वारा अपव्यय का कैसा कौतुक किया जा रहा है। अहंता का सबसे घटिया प्रदर्शन साज-सज्जा की शृंगारिकता के रूप में ही होता देखा जाता है।

समाज में फैली हुई बुराइयों में अपनी बुराइयों को बढ़-चढ़कर सिद्ध करने पर उस स्तर के लोग प्रशंसा करेंगे ही। जेल में बंद अपराधियों में जो अपनी करतूतों का अधिक दिलचस्प और भयानक विवरण सुनाते हैं, उनकी बात सुनकर दूसरे लोग अवाक तो रहे जाते हैं, पर कभी अवसर पड़ने पर उनका साथ देने के लिए भूलकर भी तैयार नहीं होते। सोचते हैं कि ऐसे लोग किसी की भी हजामत बना सकते

हैं। इनका कोई सगा-संबंधी नहीं होता, वे जिसके साथ मित्रता जोड़ते हैं पहले उसी को हलाल करते हैं।

दुष्कर्मों में दिखाई गई धूर्तता या निष्ठुरता किसी के लिए गौरव या प्रतिष्ठा की बात नहीं हो सकती, ऐसे लोगों पर दसों दिशाओं से घृणा और भर्त्सना बरसती है। रंडी-भडुए आपस में मीठी बातें करते हैं और आदान-प्रदान भी, पर दोनों में से कोई किसी का मित्र नहीं होता। मौका पड़ने पर उन्हें मुँह मोड़ने में ही नहीं घात मारने में भी देर नहीं लगती। दुर्जनों का संसार भर में न कोई प्रशंसक होता है और न सहयोगी। सज्जनता अपनाने वालों की मुँह आगे प्रशंसा भले ही न हो, भीतर से हर व्यक्ति उनके लिए श्रद्धा रखता है और सहयोग की भावना भी। यह किसी प्रकार कम महत्त्व की उपलब्धियाँ नहीं हैं। महापुरुष सामान्य स्थिति से ऊँचा उठकर महान पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं, इसमें सज्जनता के आधार पर उपलब्ध हुआ सम्मान और सहयोग ही प्रधान कारण होता है।

अपने मुँह मियाँ मिट्टू बनने, शेखी बघारने वाले को आत्मश्लाघाग्रस्त मनोरोगी माना जाता है। सज्जनों का सुनिश्चित गुण है—नम्रता और विनयशीलता, उनकी सादगी देखते ही बनती है। महामना मदनमोहन मालवीयजी को सरकार ने 'सर' की उपाधि दे रखी थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें मानद 'डाक्ट्रेट' स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया था। पंडित महासभा ने उन्हें पंडित शिरोमणि की उपाधि दी थी। इन तीनों पदवियों को उन्होंने अस्वीकृत कर दिया और कहा—मेरे पिताजी 'पंडित' की परंपरागत उपाधि दे गए हैं उसका निर्वाह ही मुझे भारी प्रतीत होता है फिर और उपाधियों से लदकर उन्हें वहन कर सकना मेरे लिए कैसे संभव हो सकेगा। यह नम्रता का एक उदाहरण है, इस कारण मालवीयजी की गरिमा घटी नहीं वरन बढ़ी है। सूर, तुलसी, मीरा, कबीर जैसे संत अपना परिचय सामान्य लोगों की पंक्ति में खड़ा होकर ही देते रहे हैं। यदि उनसे बड़प्पन की प्रशंसात्मक डींगें हाँकी होती तो निश्चित रूप से वे विज्ञानों की दृष्टि में गए-गुजरे ही गिने गए होते।

मनुष्य के लिए यह क्या कम गौरव की बात है कि वह परमेश्वर का युवराज है। इस पदवी को सार्थक बनाने के लिए उसे अपना व्यक्तित्व और कर्तृत्व ऐसा बनाना चाहिए जो उस गरिमा के अनुरूप हो, इसके लिए अपनी निजी पवित्रता और प्रखरता उच्च स्तर की विनिर्मित करनी चाहिए। निजी अभिलाषाओं को इतना कम करना चाहिए कि उसे अपरिग्रही ब्राह्मण कहा जा सके। ब्राह्मण को भगवान भी अपेक्षाकृत अधिक प्यार करते हैं और चारों वर्णों में उसकी श्रेष्ठता मानी गई है। इसका एक ही कारण है कि उसका निजी निर्वाह अत्यंत साधारण होता है और अभिमान इतना गलित होता है कि भीख माँगने में भी अवमानना अनुभव न करे। यह नम्रता की चरम सीमा है—जिस तरह फलों से लदे हुए वृक्ष की हर डाली नीचे झुक जाती है।

आत्म गौरव की अनुभूति और लोक प्रतिष्ठा की प्राप्ति का एक ही मार्ग है—पुण्य परोपकार में रसानुभूति और लोक सेवा में निरंतर प्रवृत्ति। जो इस मार्ग को अपनाने में वे हर घड़ी अपनी और दूसरों की दृष्टि में गौरव-गरिमा से भरे-पूरे माने जाते हैं। इसके बिना अन्य पगडंडियाँ खोजने वाले काँटों में उलझते और भटकाव में फँसते हैं।

सूरज, चंद्रमा निस्वार्थ भाव से प्रकाश वितरण के लिए निरंतर भ्रमण करते रहते हैं। बादलों के लिए एक ही काम है कि समुद्र से पानी लाना और सूखे भूखंडों में शीतलता एवं हरीतिमा उगाना। वृक्ष दूसरों के लिए फलते हैं, पवन दूसरों के लिए चलता और अग्नि दूसरों के लिए जलती है—यह श्रेष्ठतम कर्तृत्व ही उन्हें भरपूर सम्मान प्रदान करता है, इससे बढ़कर अहंता की पूर्ति और क्या हो सकती है। मनुष्य को भगवान के विश्व-उद्यान का माली बनाकर भेजा गया है और दायित्व सौंपा गया है कि वह उसे सुंदर, समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने में तत्परता और तन्मयता के साथ लगा रहे। यह लगन जिसकी जितनी बढ़ी-चढ़ी होगी उसकी अहंता उतनी ही विगलित होती जाएगी। इस आधार पर भारयुक्त हुई आत्मा इसी शरीर के रहते हुए जीवनमुक्त का आनंद उपलब्ध करेगी।

देवमानव बनने का आह्वान

नृतत्ववेत्ताओं ने विविध पर्यवेक्षणों और उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आदिमानव-वनमानुष स्तर का था। उसमें पशु प्रवृत्तियों का बाहुल्य था, रहन-सहन और क्रिया-कलाप भी उसी स्तर का था। प्रकृति के अनुदानों पर पशु-पक्षियों की तरह अपना जीवन निर्वाह करता था, प्रगति की दिशा में उसके कुछ चरण और आगे बढ़े तो पुरुषार्थ-परायण हुआ। कृषि, पशुपालन जैसे उद्योग सीखे, वस्त्र, निवास, अग्नि प्रज्वलन जैसी विधि-व्यवस्थाओं से अवगत हो गया। बोलना-लिखना सीख गया और अपने-अपने समुदायों के प्रथा-प्रचलनों का अभ्यस्त हो गया। भौतिक प्रगति इसी दिशा में प्रगतिशील होती चली आई है। विज्ञान, यंत्रीकरण, अर्थशास्त्र, शासनतंत्र की उपलब्धियों के सहारे वह वहाँ पहुँचा है जहाँ आज है। उसके सामने सुविधा-साधनों का बाहुल्य है। यह दूसरी बात है कि अपने व्यक्तित्व को घटिया बनाए रहकर वह उसका सही-समुचित उपयोग न कर सके। मानवी प्रगति का यही लेखा-जोखा है। मनुष्यों में से कुछ उद्दंड, अत्याचारी, छली, आक्रामक, विलासी व अहंकारी बन गए हैं और कुछ को अपनी नासमझी और कुशलता-प्रतिभा के अभाव में गई-गुजरी स्थिति में रहना पड़ रहा है। मनुष्य को बंदर की औलाद इसलिए कहा जाता है कि उसकी भावना और विचारणा पेट-प्रजनन के इर्द-गिर्द घूमती है, पेट-प्रजनन के लिए वह मरता-खपता है। बहुत हुआ तो ठाट-बाट बनाता, दर्प जताता और आक्रामक बनकर अपनी विशिष्टता सिद्ध करता है। जो इतना नहीं कर पाते वे परिस्थितियों की प्रतिकूलता और भाग्य की विपरीतता को कोसते हुए दिन गुजारते हैं। मनुष्यों में से अधिकांश तो इन्हीं आदिमानव, वनमानुष या धूर्त-शृगाल प्रकृति के देखे जाते हैं। जनसंख्या की विपुलता ने न तो लोगों को निज की गौरव-गरिमा प्रदान की है और न समाज को समुन्नत-सुसंस्कृत बनाने में ही योगदान दिया है। चकाचौंध उत्पन्न करने वाली बिड़म्बना तो चारों और बिखरी अवश्य दिखाई देती है, पर उसकी परिणति-प्रतिक्रियाओं को देखते हुए निराशा ही होती है और असमंजस होता है

कि जिसे ईश्वर का युवराज, प्राणी वर्ग में शिरोमणि-देवमानव आदि के नामों से सम्मानित किया गया है, क्या वह यही है ? जिसे लोभ, मोह, स्वार्थ, वासना, तृष्णा और अहंता के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं।

प्रकृति परायणता की सीमा इतनी है। जीवधारी अपने लिए ही जीते हैं, अपनी ही आवश्यकता को जुटाते और प्रसन्नता-अनुकूलता सँजोने में निरत रहते हैं। प्रकृति परायण होकर भी मनुष्य उसी गई गुजरी स्थिति में रह सकता है जिसमें कि अन्य जीवधारी मरते और मारते हैं, गिरते और गिराते हैं।

मानवी गरिमा का उज्ज्वल स्वरूप विकसित प्रस्फुटित तब होता है जब वह उत्कृष्ट आदर्शवादिता के साथ अपना संबंध जोड़ता है। अपने चिंतन, चरित्र व्यवहार और प्रयास को अभिनंदनीय-अनुकरणीय बनाता है। इसी ढाँचे में उसे ढालने के लिए ऋषियों ने शास्त्रों की रचना की है, अध्यात्म दर्शन का ढाँचा खड़ा किया है। योग-तप के अनेक विधान बनाए हैं, ईश्वर भक्ति के अनेकानेक उपचार-कर्मकांडों का सृजन किया है। इन आत्मोत्कर्ष की अनेकानेक विधि-व्यवस्थाओं का मूलभूत उद्देश्य एक ही है कि मनुष्य इसी जीवन में स्वर्ग, मुक्ति और सिद्धि प्राप्त करे। यह तीनों ही किसी अन्य लोक से संबंधित या जादू-चमत्कार जैसी नहीं हैं वरन उन्हें व्यक्तिगत महानता के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। दृष्टिकोण का परिष्कार ही 'स्वर्ग' है, दुष्प्रवृत्तियों से छूट निकलना 'मुक्ति' और अभिनंदनीय स्तर पर जीवनचर्या को बनाए रखना 'सिद्धि' है। आत्मोत्कर्ष के लिए इतना करना ही पर्याप्त है। इससे कम में उस प्रयोजन की पूर्ति होती नहीं, इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों, योगियों, सिद्ध पुरुषों, महामानवों को इसी आत्मिक प्रगति-प्रयास में सलग्न पाया गया है। उनसे आकाशवासी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ किया वह वस्तुतः अपने ही भीतर के देवता को जगाने के लिए किया था।

मनुष्य को सुनिश्चित रूप से अपने भाग्य का निर्माता कहा गया है, वह इसके लिए प्रबल पुरुषार्थ करता है। अपने आप को अधिकाधिक पवित्र, परिष्कृत, प्रामाणिक एवं प्रतिभावान बनाता है। समझदारी,

ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को अपने स्वभाव में सम्मिलित कर लेता है। अंतःकरण और बाह्याचरण में जब समान रूप से उत्कृष्टता का समावेश हो तो सामान्य शरीर में रहते हुए भी व्यक्ति देवमानव की गरिमा उपलब्ध कर लेता है। ऐसे लोगों के लिए देवमानव नाम दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है। देवता अशरीरी होते हैं, इसलिए उनके साथ प्रत्यक्ष घुलना-मिलना नहीं हो सकता, पर देवमानवों को संत, सुधारक और शहीदों के रूप में प्रत्यक्ष भी देखा जा सकता है। ऐसे नर देवपुरुष-पुरुषोत्तम होते तो कम ही हैं, पर उनका सर्वथा अभाव किसी भी युग में नहीं होता। सतयुग में ऐसे ही लोगों का बाहुल्य था। भारतभूमि के तैंतीस कोटि निवासी संसार भर में तैंतीस कोटि देवताओं के नाम से प्रख्यात हैं। जिस धरती पर वे जन्मते-पलते थे वह 'स्वर्गादपि गरीयसी' कही जाती थी। उनके अच्छे क्रिया-कलापों से वातावरण इतना दिव्य बन जाता था कि उसे सतयुग नाम दिया जाना उपयुक्त ही जँचता था, यह समय लंबी अवधि तक बना रहा। इनके शरीर भी प्रकृति प्रदत्त थे, पर उनके अंतःकरण में देवत्व कूट-कूटकर भरा था। डिब्बी के भीतर जो वस्तु रखी है, उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन होता है। जिनकी अंतरात्मा प्रामाणिकता, शालीनता, सेवा और पुरुषार्थ परायणता से सराबोर है उन्हें देवतुल्य ही नहीं वरन उससे बढ़कर माना जा सकता है। देवता अप्रत्यक्ष होते हैं, मनुहार करने और उपहार देने पर पसीजते हैं। इसके उपरान्त ही उनके वरदान-अनुदान साधकों पर बसरते हैं किंतु, देवमानवों की कृपा-अनुकंपा अहैतुकी होती है और बिना याचना की प्रतीक्षा किए मेघमाला की तरह बरसती और बसंत की तरह शोभा-सुषमा से सर्वत्र उल्लास बिखेरती है।

भारत देवभूमि है। स्वर्गलोक के अस्तित्व को चुनौती दिए बिना कहा जा सकता है कि यदि उसका प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो ऐसे महामानवों की उपस्थिति अभी भी जहाँ-तहाँ देखी जा सकती है। सतयुग में तो वे साधु-ब्राह्मण के रूप में एक विकसित समुदाय के रूप में ही इस धरित्री की शोभा, सुषमा, संस्कृति एवं समृद्धि का संवर्द्धन करते थे।

आज मनुष्य की व्यक्तिगत सामूहिक समस्याएँ बेतरह उलझ गई हों, साधन-सामग्री घट गई हों सो बात नहीं है। विज्ञान और कौशल ने साधनों का अतिशय विस्तार किया है, किंतु व्यक्तित्व की दृष्टि से समुदाय अतिशय बौना हो गया है। कुछ उत्पीड़क हैं, कुछ उत्पीड़ित। कुछ शोषक हैं, कुछ शोषित। कुछ पर्वत की चोटी पर बैठे हैं तो कुछ खाई में गिरकर कराह रहे हैं। इस विषमता को समता में परिणत करने के लिए देवमानवों के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं हो सकता।

पौराणिक कथानकों में अधर्म के उन्मूलन और धर्म के संस्थापन के निमित्त अवतारों का प्रकटीकरण होता रहा है। इस अलंकारिक प्रतिपादन का व्यावहारिक स्वरूप यह हो सकता है कि प्रामाणिकता और परमार्थ परायणता की पक्षधर उदारता सामान्य लोगों जैसी गतिविधियों से उबारकर देव प्रयोजनों में जुट जाने का एकाकी प्रयास करने की प्रेरणा देती है। सदभावनापूर्वक अपनाए गए उच्चस्तरीय निर्धारणों को पूरा करने में कर्त्ता की अंतरात्मा और दैवी शक्तियों की अनुकम्पा समान रूप से, संयुक्त रूप से काम करती है और जो परिणाम सामने आते हैं वे चमत्कारी स्तर के होते हैं। परमार्थी पुरोहितों को ही ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। वस्तुतः वे ही समाज का स्तर, परिस्थितियों का प्रवाह और उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने के लिए आगे बढ़ते और सफल होकर रहते हैं। समय की पुकार है कि ऐसे उदारचेता उभरें, अपने इर्द-गिर्द के भव-बंधनों की पकड़ से अपने को उबारें और साथ ही जन-कल्याण की उन प्रवृत्तियों में जुटें जिन्हें प्रकारांतर से अधर्म का उन्मूलन और धर्म का संस्थापन भी कहा जा सकता है। परिस्थितियों की माँग इतनी प्रबल है कि इससे बच निकलने के लिए कोई बहाना नहीं खोजा जाना चाहिए। सतयुग का माहौल बनाने के लिए भावनाशीलों को संकल्पपूर्वक आगे आना चाहिए, आज की परिस्थितियों में इस रीति-नीति के अपनाए जाने की अत्यंत आवश्यकता है। साधु और ब्राह्मणों को भूसुर-पृथ्वी के देवता कहा जाता है, वे अपनी योग्यता, श्रमशीलता, संपदा का न्यूनतम अंश अपने निर्वाह के लिए रखते हैं और शेष को अन्यान्यों को उठाने-बढ़ाने में खर्च करने

के लिए अवसर तलाशते रहते हैं। किसी के निवेदन की प्रतीक्षा नहीं करते, बदलों की तरह बिना बुलाए ही सर्वत्र पहुँचते हैं और हर किसी को समुन्नत-सुसंस्कृत बनाने के लिए प्रयास करते हैं—ऐसे ही देवमानवों की संख्या बढ़ने से धरती का वातावरण स्वर्गोपम बनता है।

प्रामाणिकता की समर्थ क्षमता

बैंक से पैसा पाने के लिए आवश्यक है कि या तो पहले से जमा रखी हुई पूँजी खाते में हो या फिर कोई संपत्ति गिरवी रखकर उसके बदले आवश्यक राशि प्राप्ति की जाए। बैंकों के पास प्रचुर धन होता है तो भी वे बिना किसी आधार के हर माँगने वाले को उसकी इच्छित धनराशि देने के लिए तैयार नहीं होते, हों भी कैसे? उन्हें अपनी राशि ब्याज समेत लौटानी भी तो है। जब तक वैसी संभावना सामने न आए तब बैंकों की उधार देने की नीति कार्यान्वित नहीं हो पाती।

यह संसार भी एक बड़ा बैंक है, इसमें से प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सहयोग, सहायता, सद्भावना जैसी अनेक बहुमूल्य वस्तुओं का वितरण होता है। इन्हें कोई भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करके प्राप्त कर सकता है। यह सुलभ भी है और सही भी, किंतु अप्रामाणिकता का असमंजस बीच में आ अड़े तो दाता और ग्रहीता के बीच में इतनी चौड़ी खाई आ जाती है जिसे बाँधना सरल नहीं होता।

मनुष्य का अद्यावधि इतिहास उस पूँजी के समान है जो बैंकों के खाते में पहले से ही जमा होती है और उसके बदले में माँगा हुआ धन सरलतापूर्वक दिया जाता है। समाज सेवा के रूप में, चरित्र निष्ठा के रूप में, सज्जनता, अवधारण के रूप में जिसने अपना व्यक्तित्व प्रामाणिक बनाया है, उसके लिए यह कठिन नहीं पड़ता कि अवसर आने पर उस हुंडी को न भुना ले—उपयुक्त सहायता और प्रशंसा-प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले।

इस दुनियाँ में सज्जनता भरे व्यवहार की कमी नहीं। उदारता और सहकारिता का व्यवहार सदा से जीवित रहा है और अनंतकाल तक जीवित रहेगा, किंतु यह आवश्यक है कि सद्व्यवहार प्राप्त करने का इच्छुक उसके लिए अपनी पात्रता और प्रामाणिकता का प्रमाण प्रस्तुत

करे। दया, भिक्षा, उधार के नाम पर अपवाद रूप में ही किसी को कुछ मिल सकता है और वह भी स्वल्प रूप में ही।

दूसरों की सदाशयता की अपेक्षा करना उचित है, किंतु साथ ही इस बात की भी अपेक्षा की जाती है कि जो दिया गया है वापिस भी लौटे। मुफ्तखोरी के लिए इस संसार में कोई नैतिक नियमित विधान नहीं। आपत्तिग्रस्त या अपंग असमर्थ ही करुणा के आधार पर उतना प्राप्त कर लेते हैं जितने से कि वे अपना अस्तित्व बनाए रहें। अधिक मूल्यवान प्राप्त करने के लिए तो अनिवार्य है कि उसके प्रतिदान का उपयुक्त प्रयत्न किया जाए।

दूसरों से सद्भाव-सहयोग चाहा जाता है, प्रशंसा और प्रतिष्ठा की भी आशा की जाती है। यह उपयुक्त व्यक्तियों को प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है और होती भी रहेगी, किंतु यह सब लूट के माल की तरह बटोरा नहीं जा सकता, छलपूर्वक किसी को चंगुल में फँसाए रखने की बात देर तक नहीं निभती, वेश्याएँ वह सम्मान प्राप्त नहीं कर सकतीं जो पतिव्रताओं को अनायास ही मिलता है। प्रपंच और पाखंड के बलबूते कुचक्री भी कुछ समय तक पूजा और पैसा झटक लेता है, किंतु यथार्थता प्रकट हुए बिना नहीं रहती, वह आज नहीं तो कल प्रकट होकर ही रहती है, तब पिछले सहकार की तुलना में अनेक गुना तिरस्कार बरसता है। सज्जनता की पाखंड रचना किसी के भी गले नहीं उतरती, उसकी प्रतिक्रिया होती है, यह दुर्गंध की तरह दूर-दूर तक फैलती है।

दुर्गंध और सुगंध उपजती तो अपने निश्चित स्थान पर ही हैं, पर वे उतने दायरे में सीमित नहीं रहतीं। सुदूर क्षेत्रों तक अपनी उपस्थिति का आभास कराती हैं, रास्ता चलते लोग उनका आभास प्राप्त करते हैं, प्रसन्न या उद्विग्न होते हैं। चंदन तरु के निकट पहुँचने पर कुछ समय उसकी छाया में बैठकर शांति एवं प्रसन्नता का लाभ लेने के लिए मन करता है, किंतु जहाँ सड़ी कीचड़ की, श्मशान में जलते हुए शव के धुँएँ की दुर्गंध उठ रही हो वहाँ से जल्दी दूर निकल जाने के लिए पैर बढ़ाने पड़ते हैं। उद्गम अपने स्तर के

अनुरूप आकर्षण और विकर्षण उत्पन्न करता है। व्यक्तित्व की प्रामाणिकता हर किसी को आश्वस्त करती है, सांत्वना देती है और सदाशयता को साथ देने के लिए न्यौत बुलाती है। इन सद्भावनाओं का संचय ही किसी को आंतरिक दृष्टि से सुसंपन्न बनाता है, इसी पूँजी के बल पर व्यक्ति ऊँचा उठता है। इतने बड़े काम करने का साहस कर गुजरता है जिनकी कि सामान्य लोग न कल्पना कर सकते हैं न हिम्मत। यह बल कहाँ से आता है ? यह टॉनिक रसायनों से नहीं, मल्ल विद्या अथवा शास्त्रास्त्रों से भी नहीं। उसका उद्गम है वह गौरव जो प्रामाणिकता के आधार पर आत्म-बल के रूप में प्राप्त होता है।

प्रामाणिकता जहाँ भी होती है, वहाँ श्रद्धालु उत्पन्न करती है और विश्वास भी। विश्वासपात्र की आज सर्वत्र तलाश है, उसे बड़े से बड़ा काम सौंपा जा सकता है और बड़े से बड़ा अनुदान दिया जा सकता है। गाँधी और विनोबा इसके आधुनिक उदाहरण हैं, उनकी विद्या-प्रतिभा से लोग प्रभावित ही नहीं हुए वरन लोक दृष्टि से जब हर कसौटी पर परख लिया कि विश्वासपात्र हैं तो उन्हें भरपूर सहयोग दिया गया। लोगों ने अपने घर उजाड़े और उस पथ पर चले जो कष्ट-कठिनाइयों से भरा होने पर भी उच्च आदर्शों के लक्ष्य तक ले जाता था।

हर व्यक्ति अपनी सयानी कन्या को सौंपने के लिए ऐसे वर की तलाश करता है जिसके साथ में उसका भविष्य सुरक्षित हो तथा जिसकी चरित्रनिष्ठा सद्भावना पर विश्वास किया जा सके। ऐसा सुयोग मिलने पर ही कन्या सुखी रहती है और अपने भाग्य को सराहती है भले ही उसके साथ रहकर आर्थिक तंगी ही क्यों न भुगतनी पड़ती हो। इसके विपरीत सुंदर और संपन्न व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं जो चरित्र भ्रष्ट, असहिष्णु और दुर्व्यसनी हों। ऐसी सुविधा-संपन्नता के बीच रहकर भी वधू अपने भाग्य को कोसती ही रहेगी। दुश्चरित्रों को ही भ्रष्ट या दुष्ट कहते हैं। जिनने अपनी चरित्रनिष्ठा गँवा दी समझना चाहिए कि वे भरे बाजार में लुट गए, उज्ज्वल भविष्य की सभी संभावनाएँ गँवा चुके।

अनाचारी व्यक्ति प्रलोभन देकर चापलूसों की मंडली खड़ी कर सकते हैं, उनसे मिथ्या-प्रशंसा सुन सकते हैं और अनाचारी से सहयोग भी ले सकते हैं, किंतु आड़े समय में उनका एक भी मित्र नहीं रहता। एक-एक करके सभी छूट जाते हैं, दाँव लगता है तो गहरे गर्त में गिराने से भी नहीं चूकते क्योंकि वास्तविकता उनके ध्यान में बनी रहती है। जिन हथकंडों से काम लिया गया था वे ध्यान में बने रहते हैं और घृणा उत्पन्न करते रहते हैं, यह घृणा प्रतिशोध बनकर तब प्रकट होती है जब धूर्त का समय बदलता है और कोई संकट आ दबोचता है।

कौन क्या कहता है? इस पर ध्यान नहीं दिया जाता वरन यह देखा जाता है कि कौन क्या करता है? कर्तव्य ही प्रतिभाशाली कथन है—नशेबाज और व्यभिचारी अनेक साथी-संगी, अनुयायी बना लेते हैं क्योंकि उनकी कथनी और करनी में एकता रहती है भले ही वह बुरे किस्म की ही क्यों न हों?

धर्मोपदेश देने वाले और आदर्शों की वकालत करने वाले लच्छेदार शब्दों का उच्चारण करके अपनी धाक तो जमा लेते हैं, पर छल नहीं छोड़ पाते। कारण एक ही है कि जो उनके द्वारा कहा जाता है उसे जीवन में उतारते नहीं देखा जाता, उससे पाखंड की गंध स्पष्टतया आती है। सुनने वाले इस कान से जानकारी प्राप्त करते और उस कान से निकालते रहते हैं। शब्दों में शक्ति नहीं होती, वे तो जानकारी देने भर के माध्यम हैं। उन्हें शक्तिशाली बनाने के लिए सर्वप्रथम अपने आचरण में उतारना पड़ता है।

खरे व्यक्तित्व की सही कटौती

व्यक्तित्ववान से तात्पर्य रंग-रूप की सुंदरता, कपड़ों की सज-धज, घुँघराले केश या साज-सज्जा के सामान से नहीं लगाया जाना चाहिए। यह विशेषता तो रंगमंच के नट-नटियों में भी हो सकती है पर इसके कारण उन्हें आकर्षण मात्र समझा जा सकता है। उन्हें व्यक्तित्ववान नहीं कहा जा सकता, ऐसे लोगों के प्रति न किसी की श्रद्धा होती है और न सम्मान। उन्हें कोई उत्तरदायित्वपूर्ण काम भी नहीं सौंपे

जा सकते और न उनसे यह आशा की जा सकती है कि वे जीवन में कोई महत्वपूर्ण काम कर सकेंगे।

व्यक्तित्व से तात्पर्य शालीनता से है, सद्गुणों से युक्त स्वभाव से, सज्जनता से और मानवी गरिमा के अनुरूप अपनी वाणी, शैली, दिशाधारा एवं विधि-व्यवस्था अपनाने से है। यह सद्गुण स्वभाव के अंग होने चाहिए और व्यवहार में उनका समावेश गहराई तक होना चाहिए अन्यथा दूसरों को फँसाने वाले ठग भी कुछ समय के लिए अपने को विनीत एवं सभ्य प्रदर्शित करते हैं। कोई जब उनके जाल में फँस जाता है तो अपने असली रूप में प्रकट होते हैं। धोखे में डालकर बुरी तरह ठग लेते हैं, विश्वासघात करके उसकी बुरी तरह जेब काटते हैं। कोई आदमी वस्तुतः कैसा है, इसे थोड़ी देर में नहीं समझा जा सकता है। उसकी दिनचर्या देखकर वर्तमान संगति एवं मित्र मंडली पर दृष्टिपात करके समझा जा सकता है कि उसका चरित्र कैसा है? यह चरित्र ही व्यक्तित्व की परख का प्रधान अंग है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा एवं विचार-पद्धति भी देखने योग्य है। कुछ समय के वार्तालाप में मनुष्य की शिक्षा एवं आस्था का पता चल जाता है। चिंतन वाणी में प्रकट होता है। ठग आदर्शवादी वार्तालाप कर सकने में सफल नहीं हो सकते, वे किसी को जाल में फँसाने के लिए ऐसी बातें करते हैं मानो उसके हितैषी हों और उसे अनायास ही कृपापूर्वक कोई बड़ा लाभ कराना चाहते हैं। नीतिवान ऐसी बातें नहीं करते, वे अनायास ही उदारता नहीं दिखाते और न अनुंकपा करते हैं। न ऐसा रास्ता बताते हैं जिसमें नीति गँवाकर कमाई करने का दाँव बताया जा रहा है। व्यक्तित्ववान स्वयं नीति की रक्षा करते हैं, भले ही इसमें उन्हें घाटा उठाना पड़ता हो। यही नीति उनकी दूसरों के संबंध में होती है, जब भी जिसे भी परामर्श देंगे वह ऐसा होगा जिसमें चरित्र पर आँच न आती हो, भले ही सामान्य स्तर का बना रहना पड़े।

शालीनता उपार्जित करने के लिए शिक्षा की भी जरूरत पड़ती है। अशिक्षित आमतौर से गँवार या मूर्ख होते हैं, उनके व्यवहार में दूसरों को हानि पहुँचाकर अपना लाभ कमा लेने की नीति का समावेश होता

है। ऐसा ही वे स्वयं करते हैं और ऐसा कर गुजरने के लिए वे दूसरों को परामर्श देते हैं। कारण कि उनका ज्ञान समीपवर्ती साधारण लोगों तक ही सीमित होता है और औसत आदमी सफल बनने के लिए ऐसे ही तरीके अपनाता है उनमें से अपवाद रूप में ही भलमनसाहत पाई जाती है। जिस पर इस समुदाय का प्रभाव है वे यही समझते हैं कि दुनियाँ के रीति-रिवाज यही हैं और इस रीति को अपनाने में कोई हर्ज नहीं है। सुशिक्षित, स्वाध्यायशील व्यक्तियों की आदर्शवादियों जैसी कार्यपद्धति होती है। इतिहास में ही ऐसे श्रेष्ठ पुरुष खोजे जा सकते हैं, वे कभी-कभी और कहीं-कहीं ही होते हैं। उन्हें आदरपूर्वक पढ़ने, सुनने और समझने से ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इन लोगों ने प्रत्यक्ष घाटा उठाते हुए भी आदर्शों का परिपालन किया है और सर्वसाधारण के सामने अनुकरणीय पथ-प्रदर्शन प्रस्तुत किया है। ऐसे लोग यदि भावनाशील हुए और आदर्शों को अपनाने से किस प्रकार महान बना जा सकता है? यह समझ सके तो फिर अपने को ढाँचे में ढालते हैं और समय-समय पर दूसरों को भी वैसी ही सलाह देते हैं, इसी परख पर यह जाना जा सकता है कि यह व्यक्तित्ववान है या नहीं, उसकी शालीनता परिपक्व स्तर की है या नहीं।

व्यक्तित्ववान दूसरों का विश्वास अर्जित करते हैं, साथ ही सम्मान एवं सहयोग भी। ऐसे लोगों को बड़े उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं और वे उन्हें उठाने में प्रसन्न भी होते हैं, क्योंकि महत्त्वपूर्ण कार्यों को संपन्न करने में अनेक लोगों का विश्वास और सहयोग अर्जित करने में ऐसे ही लोग सफल होते हैं। निश्चित है कि महत्त्वपूर्ण कामों को पूरा करने में सद्गुणी साथी अनिवार्य रूप से आवश्यक होते हैं और वे हर किसी का साथ नहीं देते, कारण कि उन्हें यह देखना पड़ता है कि कहीं ओछे लोगों की मंडली में शामिल हमें भी बदनामी न ओढ़नी पड़े।

व्यक्तित्ववानों की परख का एक और तरीका है कि उनसे अपने सगे-संबंधियों के साथ न्यायोचित व्यवहार का निर्वाह किया या नहीं। जिनके साथ निरंतर रहना पड़ता है, उन्हीं के साथ आदमी की असलियत

खुलती है। बाहर के लोगों के साथ तो बनावटी सज्जनता भी दिखाई जा सकती है, पर मुखौटा पहिनकर दिनचर्या का निर्वाह नहीं हो सकता। चकमे में डालने की कला कभी-कभी ही काम देती है और वह प्रायः अजनबी लोगों पर ही सफल होती है। जिनसे लगातार वास्ता पड़ता है उनसे किसी के स्वभाव या चरित्र की वस्तुस्थिति छिपी नहीं रहती, व्यक्तित्ववानों को सदा अपनी गरिमा का ध्यान रहता है। स्वाभिमान गँवाने वाले कामों में वे हाथ नहीं डालते, ऐसी दशा में चतुर लोग उनसे उदास रहते हैं और घनिष्ठता स्थापित नहीं करते। किसकी घनिष्ठता किनसे है? यह देखकर सहज ही जाना जा सकता है कि इस व्यक्ति का स्तर क्या होना चाहिए? इसी प्रकार यदि पिछले दिनों के कार्यों पर दृष्टि डाली जाए तो यह देखा जा सकता है कि वे किस स्तर के थे तो भी समझा जा सकता है कि इनका व्यक्तित्व क्या है? इस स्तर की प्रतिभा अर्जित करने के लिए उच्चस्तरीय स्वाध्याय सत्संग आवश्यक है। जिसे बाहर स्थिति ऐसी मिलेगी वही चिंतन और मनन भी उच्चस्तर का कर सकेगा, उनके द्वारा अन्यान्यों को भी ऊँचे स्तर का परामर्श एवं सहयोग मिलेगा। इन्हीं कसौटियों पर कसकर यह देखा जा सकता है कि किसका व्यक्तित्व किस स्तर का है।

व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में मनुष्य की महती और चिरस्थायी संपदा है, इसी के सहारे वह अपना और दूसरों का भला कर सकता है। किन्हीं पर उपयोगी प्रभाव डालने में भी ऐसे ही लोग सफल होते हैं अन्यथा जिनकी कथनी और करनी में अंतर होता है वे सर्वत्र संदेह की दृष्टि से देखे जाते हैं और पोल खुलने पर उपाहासास्पद बनते हैं।

ऊँचे उठने, सफल बनने एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए जिस सौभाग्य को सराहा जाता है वह वस्तुतः खरा व्यक्तित्व ही है। सोने की जब कसौटी और अँगोठी पर परख हो जाती है तो उसकी उपयुक्त कीमत मिलती है। यही बात व्यक्तित्व के संबंध में भी है, वह जब खरा होने की स्थिति तक पहुँच जाता है तो मनुष्य को ऐसा सौभाग्यशाली बनाता है जिसकी चिरकाल तक सराहना होती रहती है।

व्यक्तित्व परिष्कार हेतु-गहराई तक प्रवेश करना होगा

आहार-विहार की उपयुक्तता का स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ने की बात गलत नहीं है, पर विज्ञान के बढ़ते हुए कदम अब यह सिद्ध कर रहे हैं कि न केवल स्वास्थ्य संगठनों का वरन पीढ़ियों की आकृति-प्रकृति का संबंध भी अधिक गहराई तक इस तथ्य से जुड़ा हुआ है। यह गहराई है जीव कोशिकाओं की, जो परंपरागत 'जीन्स' तथा अविज्ञात आधार पर खड़े हुए हार्मोन स्त्रावों की जो शरीर की आकृति-प्रकृति से बहुत कुछ संबंध रखते हैं।

वंशानुक्रम विशेषताओं को चार्ल्स डार्विन के विकासवाद के सिद्धांतों के अनुसार प्रजनन के लिए एक कच्ची सामग्री भर समझा जाता रहा है। ज्यों-ज्यों विज्ञान ने प्रगति की, वैसे ही संतति विकास में वंशानुक्रम की मान्यताएँ भी परिवर्तित होती रही हैं। डार्विन के पश्चात ग्रेगर मेण्डल ने वंशानुक्रम को भली प्रकार समझा और उन नवीनतम सिद्धांतों को प्रतिपादित किया, जिन्हें वंशानुक्रम की कुंजी के नाम से जाना जाने लगा। लेकिन दुर्भाग्यवश यह महत्वपूर्ण कार्य जन साधारण की दृष्टि में नहीं आया। सन् १९०० में उनके प्रतिपादनों को पुनः खोजा गया। जिसे बाकायदा 'हैरिडिटी' नाम दिया गया। शनैः शनैः खोजों का क्रम जारी रखा गया। मेण्डल ने प्रजनन से संबंधित उन सभी नियमों को खोज निकाला जिनमें मानवी विशेषताएँ वंशानुक्रम का निर्धारण करती हैं। लेकिन तत्कालिक विज्ञ समुदाय ने पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में इनके विज्ञान सम्मत होने की पुष्टि नहीं की। किंतु उनकी मृत्यु के पश्चात जब इस दिशा में पुनः शोध कार्य आरंभ हुआ तो वैज्ञानिकों को वही सारे परिणाम प्राप्त हुए, जिसके बारे में वर्षों पूर्व मेण्डल ने बताया था। इस प्रकार अनुवांशिकी का जनक कहलाने का उन्हें श्रेय प्राप्त हुआ, मगर मेण्डल ने पौधों के बाह्य आकार-प्रकार को लेकर प्रयोग-परीक्षण किए थे, अस्तु उनके परिणाम भी उन्हीं पर आधारित थे। वे इस बात को बताने में सर्वथा असमर्थ रहे कि आखिर इन गुणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ले जाने के लिए जिम्मेदार कौन है? इस कारक की

खोज आगे के वैज्ञानिकों ने की। जर्मनी के 'आगस्टम बेजमें' का नाम इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने प्रथम बार यह बताया कि कोशिकाओं के नाभिक में पाया जाने वाला 'न्यूक्लियर थ्रेड' अथवा गुणसूत्र ही वह मूलभूत कारक है, जो माता-पिता के गुणों को पुत्र तक ले जाने की भूमिका संपन्न करता है। इतना ही नहीं, उनसे यह भी बताया कि संतति की अपनी कोई निजी विशेषता नहीं होती, वरन उसमें माँ-बाप दोनों के गुणों का सम्मिश्रण होता है। इस प्रकार यदि चाल-ढाल, बात-व्यवहार पिता से मिलते हैं तो संभव है नाक-नक्श, रूप-रंग माँ के समान हों।

गुणसूत्र के बारे में इतनी जानकारी मिलने के बाद वैज्ञानिक इसके और गहन अध्ययन में जुट पड़े, जिसके उपरान्त यह जानना संभव हो सका कि पुरुषों और महिलाओं में यह दो भिन्न प्रकार के होते हैं। पुरुषों में एक्स-वाई तथा महिलाओं में एक्स-एक्स प्रकार के पाए जाते हैं। पौधों से कई ऐसे नए तथ्य भी हाथ लगे, जिनकी पूर्व के वर्षों में जानकारी नहीं थी, यथा—“क्यों किसी विशेष नस्ल के लोगों की आयु अन्यो की अपेक्षा अधिक होती है और क्यों कोई अल्पायु होता है? वर्णान्धता और अधिरक्तस्त्राव की व्याधियों से पुरुष वर्ग ही अधिक पीड़ित होते क्यों देखे जाते हैं आदि।” अनुसंधान के दौरान इन सभी के मूल में गुण-सूत्रों संबंधी संरचना ही मुख्य कारण ज्ञात हुआ। अध्ययनों से यह भी पता चला कि हर प्रजाति में गुणसूत्रों की संख्या निश्चित होती है, पर हर क्षेत्र की भाँति यहाँ भी अपवाद देखने को मिला। मनुष्यों में ये प्रायः ४६ की संख्या में होते हैं, किंतु कई लोगों और विशेषकर मंगोलियनों में इनकी संख्या ४७ पाई गई। इस अतिरिक्त गुण-सूत्र का प्रभाव उनकी शारीरिक व मानसिक संरचना में स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है। ज्ञातव्य है कि मंगोलियनों के चेहरे की बनावट अन्य जातियों से भिन्न प्रकार की होती है। एक विशेष चेहरे के लिए आनुवंशिक शास्त्री उनकी कोशिकाओं में विद्यमान एक अतिरिक्त 'वाई' गुण-सूत्र को ही जिम्मेदार ठहराते हैं, जबकि उसकी आंतरिक संरचना में इससे आक्रामकता और अवांछनीयता की वृद्धि होती है। इस आधार की पुष्टि तब और सुदृढ़ हो गई जब सन् १९६० में इंगलैंड

में एक ऐसे व्यक्ति का सूक्ष्म अध्ययन किया गया, जो आक्रामक प्रकृति का था। परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि उसके व्यक्तित्व की ११ प्रकार की त्रुटियों के लिए मात्र उसका एक अतिरिक्त गुण-सूत्र ही उत्तरदायी है, पर गुण-सूत्रों की संख्या में वृद्धि सर्वथा अवांछनीय ही नहीं होती। कभी-कभी उससे अच्छे गुण भी विकसित हो जाते हैं।

कोल्चीसिन औषधि को क्रोकस नामक पौधे से निकालते समय गुण-सूत्रों की संख्या में मूल पौधे से कई गुनी अधिक वृद्धि हो जाती है, किंतु इस प्रक्रिया से इस पौधे में कोई अन्यथा परिवर्तन नहीं होता, वरन उसकी नस्ल में और अधिक सुधार हो जाता है। परीक्षणों के दौरान इससे पौधे की प्रजनन क्षमता व उत्पादकता और अधिक सबल-समर्थ होते देखी गई, कारण कि इसमें एक से दूसरे पौधे में गुण-सूत्रों के हस्तांतरण की प्रक्रिया में उपयोगी जीन पहुँचाए जाते हैं, जो नस्ल उन्नत बनाने में महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। अब इसी प्रक्रिया से अन्य पौधों की भी उन्नत किस्में विकसित की जा रही हैं, मगर इस प्रक्रिया द्वारा नस्लों में सुधार-विकास सिर्फ वृक्ष-वनस्पतियों एवं छोटे आकार के जंतुओं में ही उचित होगा। मनुष्यों के साथ इस प्रकार के प्रयोग-परीक्षण में खतरा सदा इस बात का बना रहेगा कि इस प्रक्रिया के दौरान कहीं कोई हिटलर, मसोलिनी, रुडाल्फ हेस अथवा क्लाउस बार्बी (लियोन का कसाई) स्तर का व्यक्तित्व न पैदा हो जाए, जो समय और समाज दोनों के लिए घातक सिद्ध हो। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक अब इस बात पर विचार कर रहे हैं कि व्यक्तित्व में निकृष्टता और उच्छृंखलता पैदा करने वाले 'जीन्स' की कटाई-छटाई कर मनुष्य के व्यक्तित्व को उत्कृष्ट और उदात्त बनाया जाए। इस दिशा में सफलता अमेरिका के डॉ० होपवुड को मिली है। उनने 'हाईब्रीड तकनीक' नामक एक ऐसी विधि खोज निकाली है, जिसके अंतर्गत जीन्स की मरम्मत एवं प्रत्यारोपण दोनों संभव हो सकेंगे। इस प्रणाली द्वारा उत्पन्न तीन प्रकार की जीनों (१) एक्टीनोरहिडीन, (२) मेडरमाइसिन (३) ग्रेण्टीसिन द्वारा शरीर में उन रसायनों व एन्जाइमों की कमी पूरी की जा सकेगी, जिसके कारण शरीर-स्वास्थ्य लड़खड़ाने व रुग्ण बनने लगता है। इस प्रकार

इस प्रक्रिया द्वारा जहाँ एक ओर दोष-दुर्गुण व रोगोत्पादक जीन्स में सुधार परिवर्तन शक्य होगा, वहीं दूसरी ओर श्रेष्ठतावर्द्धक जीन्स का प्रत्यारोपण कर मनुष्य की गुणवत्ता बढ़ाना भी संभव हो सकेगा।

गुणवत्ता संबंधी समस्या के अतिरिक्त मनुष्य के साथ इन दिनों जो एक और समस्या जुड़ गयी है, वह है उसकी अल्पायुष्य की, आजकल व्यक्ति की औसत आयु ५०-५५ के बीच रह गई है, अतः स्वस्थता, गुणवत्ता के साथ-साथ आयुष्य वृद्धि में भी जीन द्वारा क्रांति लाने का विचार कर रहे हैं। इस संदर्भ में विश्व की अनेक प्रयोगशालाओं ने कार्य करना भी प्रारंभ कर दिया है। न्यूयार्क के 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एजिंग' के प्रख्यात जैव रसायनज्ञ रिचर्ड कटलर व मूर्द्धन्य अनुवांशिक शास्त्री मंक्रेस एक ऐसे रसायन की खोज में जुटे हैं, जो आयु के जिम्मेदार जीन को उद्दीप्त कर सके। वस्तुतः प्रत्येक शरीर कोशिका में छः जीन्स का 'सुपर जीन समूह' होता है। जब इस पर किसी स्वतंत्र मूलक का आक्रमण होता है तो प्रतिक्रिया स्वरूप ये एस० ओ० डी० नामक आयुवर्द्धक आयोडिन स्रावित करने लगते हैं। रिचर्ड कटलर का कहना है किसी प्रकार यदि इस जीन समूह को धोखा देकर उनमें यह भ्रम पैदा किया जा सके कि उसकी कोशिकाओं के चारों ओर बहुत सारे स्वतंत्र मूलक हैं, तो भ्रांति में पड़कर जीन्स एस० ओ० डी० एन्जाइम स्रावित करने लगेंगे और इस प्रकार कोशिका और जीवन की अवधि में महत्वपूर्ण बढ़ोत्तरी संभव हो सकेगी। यूनिवर्सिटी ऑफ नेब्रास्का मेडिकल सेंटर, ओमाहा के डेनहाम हरमन ने भी इस परिकल्पना का समर्थन करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि यह संभव है यदि ऐसी कोई विधि निकट भविष्य में खोज ली गई, तो इससे जीवन अवधि ५-१५ वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है।

व्यक्ति मात्र वंश परंपरा से नहीं बनता

वस्तुतः आनुवंशिकी का इतना महत्व नहीं है, जितना कि कहा जाता है। उसका प्रभाव आरंभिक भूमिका निर्वाह के काम तो आता है, पर शिशु में वही सब गुण-धर्म हों, यह आवश्यक नहीं। माता-पिता के स्वास्थ्य और मन की थोड़ी छाप शिशु में भी पाई जाती है, किंतु यह सोचना गलत

है कि नवजात बालक का समूचा व्यक्तित्व इन डिंब और शुक्र कीटकों की ही समन्वित अनुकृति है।

बच्चे के साथ पूर्व जन्म के संचित संस्कार भी रहते हैं। जिन लोगों के बीच में उसे जीवनायापन करना पड़ता है, उसके वातावरण की छाप भी उस पर रहती है। शिक्षा अपना प्रभाव छोड़ती है। इसके अतिरिक्त प्राणी का निज का रुझान, चिंतन, दृष्टिकोण भी अपनी प्रतिक्रिया सम्मिलित करता है। भौतिक क्षेत्र की इतनी विशेषताएँ मिलकर वह रसायन विनिर्मित होता है, जिससे व्यक्तित्व की समग्र रूपरेखा गढ़ी जाती है।

आनुवांशिकी विज्ञान के मूर्द्धन्य 'जीन्स' की संरचना पर इसलिए बहुत ध्यान दे रहे हैं कि उनकी भीतरी हलचलों और व्यवस्थाओंकी जानकारी प्राप्त करने के उपरांत इच्छित स्तर के बच्चे जन्माये और श्रेष्ठ कोटि के मनुष्य बनाए जा सकें। इस प्रयोजन के लिए वे प्रौढ़ परिपक्व नर-नारियों को ही प्रजनन में प्रवेश करने की छूट देते हैं और कहते हैं कि जिन युग्मों में अभीष्ट परिपक्वता न हो, उन्हें गर्भ धारण करने-कराने का दायित्व वहन नहीं करना चाहिए। साधारण मनोविनोद ही दांपत्य जीवन का आनंद है। यह मान्यता रखते हुए मैत्री भर निभानी चाहिए। मानवी संरचना के अंग बनने वाले ऐसे नागरिक उत्पन्न नहीं करना चाहिए जो अपने लिए तथा अन्यान्यों के लिए संकट उत्पन्न करें।

किंतु यह प्रतिपादन भी अधूरा-एकांगी ही है। नर-नारी के स्थूल घटक ही पूरी तरह शिशु के शरीर एवं स्वभाव का निर्माण नहीं करते। यदि ऐसा होता तो सुयोग्य संतानों का कार्य मात्र कुछ बलिष्ठ स्त्री-पुरुषों के लिए रह जाता। समग्रता के लिए बलिष्ठता के साथ-साथ बुद्धि-वैभव भी होना चाहिए। उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी उच्चस्तरीय होने चाहिए। जबकि ऐसा कभी सुनिश्चित नहीं होता। शरीर के रसायन काय-कलेवर पर ही अपनी छाप छोड़ सकते हैं, किंतु उन गुणों को उत्तराधिकार में प्रदान नहीं कर सकते, जिनका उन्हें स्वयं अभ्यास नहीं। इस आधार पर तो यह मान्यता बनती है कि

अशिक्षित जोड़े से बनी संतानें मूर्ख स्तर की बनी रहेंगी। न उनमें विद्या के प्रति रुचि होगी और न उनका मस्तिष्क बुद्धि की प्रखरता, शान दिखा सकने योग्य बन सकेगा। इस प्रतिपादन के समर्थन में असंख्यों उदाहरण मौजूद हैं, जिनमें अभिभावकों की तुलना में संतान में भिन्न प्रकार के गुण पाए गए। आवश्यक नहीं कि संगीतकार का बेटा संगीतकार ही हो। साहित्यकार का बेटा साहित्यकार ही हो। इसके अतिरिक्त सामान्य परिवारों में विशिष्ट योग्यताओं वाले वरिष्ठ व्यक्तियों को उत्पन्न कैसे किया जाए? इस प्रतिपादन के विपरीत अनेकानेक प्रमाण और उदाहरण विपुल संख्या में देखने को मिलते हैं। अतएव नर-नारी की शारीरिक वरिष्ठता, सुंदरता को महत्त्व देते हुए भी उनके समूचे व्यक्तित्व के परिष्कृत होने की आशा और संभावना इतने छोटे आकार में सीमित नहीं की जा सकती। यदि ऐसा कुछ है भी तो उसे उतने समय तक के लिए ही सीमित समझा जा सकता है, जब तक कि बालक पूर्णतया अभिभावकों पर ही निर्भर रहता है और उन्हीं के द्वारा प्रदत्त मार्गदर्शन का अनुसरण करता है। पर यह स्थिति देर तक नहीं रहती। किशोर को जब स्कूल जाने-समाज संपर्क बनाने का अवसर मिलता है तो देखने-सुनने को ऐसा बहुत कुछ मिलता है जो ज्ञान, अनुभव अभिभावकों के पास नहीं था। ऐसी दशा में समाज संपर्क की प्रभाव क्षमता ही किशोरवस्था में अपनी विशेषताओं का अनुभव कराने लगती है। ऐसी स्थिति में आनुवंशिकी को इतना महत्त्व दिया जाना चाहिए, जितना कि इन दिनों दिया जा रहा है।

मनुष्य न तो पशु है और न पेड़, जिसके बीजों की जाँच-पड़ताल करके अच्छी नस्ल पैदा की जाए। कलमें पेड़ों में लगाई जा सकती हैं। ग्राफ्टिंग के प्रयोग से नई-नई किस्म के खूबसूरत पौधे बनाने में मदद मिली है। क्रास ब्रीडिंग के प्रयोगों से पशु वर्ग पर भी अपवाद जितना ही प्रतिफल मिल सका है। गधे और घोड़ी के संयोग से खच्चर तो उत्पन्न हुए पर वे सभी रहे नपुंसक ही। उनमें अपना वंश चलाने की क्षमता नहीं पाई गई। शरीरगत जीन्स श्रृंखला के आधार पर ही हम नई

पीढ़ी का सृजन स्वरूप निर्धारित करेंगे तो वही मनोरथ पूरा न हो सकेगा जो मनुष्य की मौलिक विशिष्टताओं के सामान्य प्रयासों से कोई बड़ा प्रयोजन परिवर्तन पूरा कर सके।

समर्थ भावी पीढ़ियों के निर्माण में अध्यात्म उपचारों का आश्रय लेना होगा और उस क्षेत्र में उच्चस्तरीय भाव चिंतन का समावेश करना होगा। आदर्शों और सिद्धांतों को यदि चेतना की गहरी परतों तक प्रविष्ट कराया जा सके तो उस भावनात्मक विशेषता का समावेश उनमें करके नई पीढ़ियों में अभीष्ट विशेषताएँ पैदा की जा सकती हैं। प्राचीनकाल में गुरुकुलों में महामानवों की ढलाई होती थी। वहाँ मात्र शिक्षा का ही प्रबंध न था वरन उनके रहन-सहन, चिंतन और संवेदना को ऐसे तत्त्वज्ञान में ढाला जाता था जिससे बालक वंश परंपरा में चले आ रहे कुसंस्कारों का परिमार्जन कर सकें। इस संदर्भ में अभिभावकों का उत्कृष्ट चिंतन और उदाहरण जैसा आदर्श चरित्र भी एक बड़ी भूमिका निभा सकता है।

